प्रवेशांक जनवरी-मार्च 2021

मुंबई विद्यापीठ

शोधावरी

मुंबई विश्वविद्यालय मुक्त प्रवेश आंतर्विद्याशाखीय पूर्व-समीक्षित शोध त्रैमासिकी

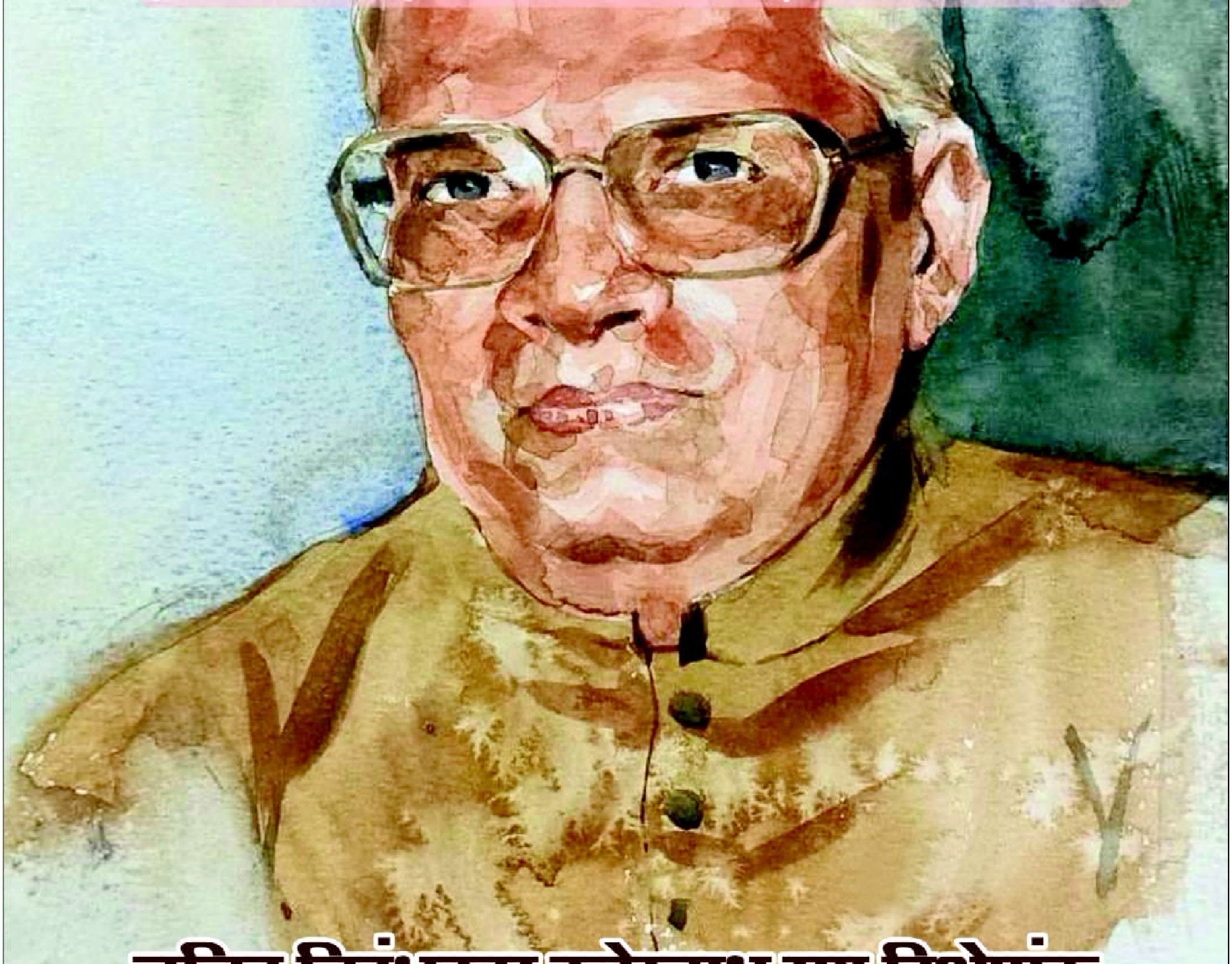

ललित निबंधकार कुबेरनाथ राय विशेषांक

शोधावरी

मुंबई विश्वविद्यालय मुक्त प्रवेश आंतर्विद्याशाखीय
पूर्व-समीक्षित शोध त्रैमासिकी
जनवरी-मार्च 2021 वर्ष:1/अंक:1

प्रकाशक
अधिष्ठाता, मानविकी संकाय,
मुंबई विश्वविद्यालय
आंबेडकर भवन, विद्यानगरी परिसर,
कालिना, मुंबई-98

प्रधान संपादक
डॉ. राजेश खरात
अधिष्ठाता, मानविकी संकाय
rajeshkharat@mu.ac.in

रूपरेखा

- प्रतिष्ठित विचारकों, प्राध्यापकों, शोधार्थियों तथा दुनिया भर के विविध संस्थानों के रचनाकारों के सार्थक योगदान के लिए यह शोध पत्रिका एक खुला मंच है।
- अकादमिक मानदंडों के अनुरूप शोध-प्रपत्र विद्वतापूर्ण, तर्कसंगत, आलोचनात्मक, सृजनधर्मी, विश्लेषणात्मक निगमनात्मक स्वरूप के हो सकते हैं।
- टिप्पणियाँ, टीकाएँ अथवा समीक्षाएँ भी प्रस्तुत की जा सकती हैं।
- विशेषज्ञ समिति द्वारा पूर्व समीक्षित रचनाएँ ही प्रकाशित की जाएँगी।
- कतिपय अंकों हेतु शोध-प्रपत्र आमंत्रित किए जाएँगे यद्यपि अधिकांश अंकों हेतु शोध-प्रपत्र मँगवाए जाएँगे।
- प्रसंगानुसार कतिपय अंक विशेषांक होंगे।
- शोध-प्रपत्र मौलिक, विद्वतापूर्ण, सृजनात्मक तथा समीक्षात्मक समुचित संदर्भों सहित हों।
- शोध-प्रपत्र की शब्द सीमा 3500-4000 शब्दों की तथा समीक्षा की शब्द सीमा 1500-2000 होगी।
- शोध-प्रपत्र देवनागरी लिपि में आकृति अथवा यूनिकोड में 12 फॉन्ट आकार में हों।
- लेखक-तिथि संदर्भ-प्रणाली हेतु परिशिष्ट में दी गई सूचनाओं का पालन करें।
- शोध-प्रपत्र के साथ एक सत्यापन प्रमाण पत्र प्रस्तुत करें कि यह कृति मौलिक, अप्रकाशित तथा साहित्यिक चोरी से दोषमुक्त है।
- शोध-प्रपत्र, टिप्पणियाँ अथवा पुस्तक समीक्षाएँ बहुधा गोपनीय विशेषज्ञ समिति की सकारात्मक प्रतिक्रियाओं के अधीन होंगी।
- शोध-प्रपत्र निम्नलिखित पते पर प्रेषित करें-
  shodhawari@mu.ac.in

शोधावरी विवरणिका

शीर्षक	शोधावरी
प्रकाशन अवधि	त्रैमासिक
ISSN	आवेदित
प्रकाशक	अधिष्ठाता, मानविकी संकाय, मुंबई विश्वविद्यालय
प्रधान संपादक	डॉ. राजेश खरात
कॉपीराइट	मुंबई विश्वविद्यालय
प्रकाशन आरंभ	जनवरी 2021
विषय	आंतर्विद्याशाखीय
भाषा	हिंदी
प्रकाशन की रूपरेखा	ऑनलाइन
फोन नंबर	9868766490
ई-मेल	: rajeshkharat@mu.ac.in
मोबाइल	9868766490
वेबसाइट	निर्माणाधीन
पता	: रूम नं.2, शंकर राव चव्हाण शिक्षक प्रशिक्षण अकादमी, मुंबई विश्वविद्यालय, कालिना परिसर, मुंबई - 98

''एक आदर्श समाज में अनेक अभिरुचियाँ सचेतन स्तर पर संप्रेषित और साझा की जाती हैं...दूसरे शब्दों में '*सोशल एन्डोस्मोसिस' अत्यावश्यक है।''

भारतरत्न डॉ. बाबासाहब आंबेडकर

*(*सामाजिक अंतराभिसरण)*

शोधावरी

मुंबई विश्वविद्यालय मुक्त प्रवेश आंतर्विद्याशाखीय पूर्व-समीक्षित शोध त्रैमासिकी

जनवरी-मार्च, 2021 (वर्ष 1, अंक 1)

प्रधान संपादक

प्रोफेसर राजेश खरात
अधिष्ठाता, मानविकी संकाय
मुंबई विश्वविद्यालय, आंबेडकर भवन, विद्यानगरी परिसर, मुंबई-98
E-mail: rajeshkharat@mu.ac.in
Profile link: https://mu.ac.in/board-of-deans

संपादक

प्रोफेसर हूबनाथ पांडेय
हिंदी विभाग, रानाडे भवन
मुंबई विश्वविद्यालय, विद्यानगरी परिसर, मुंबई-98
E-mail: hubnath@mu.ac.in
Profile link: https://mu.ac.in/department-of-hindi#1549013984595-98483dec-ad30

उप संपादक

डॉ. भाग्यश्री वर्मा
सहयोगी प्राध्यापक
अंग्रेज़ी विभाग, रानाडे भवन
मुंबई विश्वविद्यालय, विद्यानगरी परिसर, मुंबई-98
Email:bhagyashree@english.mu.ac.in
Profile link: https://mu.ac.in/department-of-english-3#1571382827900-0caafe92-0778

डॉ. अभय दोशी
सहयोगी प्राध्यापक एवं
अध्यक्ष, गुजराती विभाग, रानाडे भवन
मुंबई विश्वविद्यालय, विद्यानगरी परिसर, मुंबई-98
E-mail: abhaydoshi@mu.ac.in
Profile link:https://mu.ac.in/wp-content/uploads/2021/09/abhaydoshi.pdf

श्रीमती छाया सयाम
सहायक ग्रंथपाल
जवाहरलाल नेहरू ग्रंथालय
मुंबई विश्वविद्यालय, विद्यानगरी परिसर, मुंबई-98, E-mail: chhaya.sayam@library.mu.ac.in
Profile link: https://mu.ac.in/knowledge-resource-centre#1622547186859-13494537-3db5

सह संपादक

डॉ. शीला आहुजा
अध्यक्ष,
हिंदी विभाग
श्रीमती सी.एच.एम.
महाविद्यालय, उल्हासनगर
1skahuja@gmail.com

डॉ. श्यामसुंदर पांडेय
सहयोगी प्राध्यापक, हिंदी विभाग
बिड़ला महाविद्यालय, कल्याण, महाराष्ट्र
ssdpandey1@gmail.com

डॉ. अनिल ढवळे
अध्यक्ष, हिंदी विभाग
जोशी बेडेकर महाविद्यालय
ठाणे, महाराष्ट्र
anild883@gmail.com

अनंत द्विवेदी
सहायक प्राध्यापक
साकेत कला, विज्ञान एवं वाणिज्य महाविद्यालय, कल्याण (पूर्व)
anant.arindam@gmail.com

डॉ. सुनिल चव्हाण
सहयोगी प्राध्यापक एवं अध्यक्ष
हिंदी विभाग, कला, विज्ञान एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
लांजा, रत्नागिरी
sunil8012@gmail.com

डॉ. लालासाहेब इंदुराव घोरपडे
सहयोगी प्राध्यापक एवं अध्यक्ष
हिंदी विभाग,
कणकवली महाविद्यालय,
कणकवली, सिंधुदुर्ग
lighorpade14@gmail.com

संपादकीय सलाहकार

डॉ. रमेश दीक्षित
पूर्व प्रोफेसर अध्यक्ष, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय
rameshdixit@gmail.com

डॉ. रतनकुमार पांडेय
पूर्व प्रोफेसर अध्यक्ष, हिंदी विभाग
मुंबई विश्वविद्यालय
prof.ratankumarpandey@rediffmail.com

प्रकाशन सहयोग

पृष्ठ संयोजन एवं टंकण

श्री राजेश कुमार यादव
rajeshy206@gmail.com

श्री शकील अहमद
shakeel.ahmad.g@gmail.com

प्रूफ पठन

डॉ. रीता दास राम
reeta.r.ram@gmail.com

कु. सायली पवार
sayalipawar2891@gmail.com

कु. पुष्पा चौधरी
cpushpa.aries04@gmail.com

कार्यालय : कक्ष, क्र.2, शंकर राव चव्हाण शिक्षक प्रशिक्षण अकादमी, विद्यानगरी परिसर, मुंबई विश्वविद्यालय,मुंबई-400098,
मोबइल नं. 9969016973/8291442759 / E-mail: shodhawari@mu.ac.in/shodhawari@gmail.com

मुद्रण : मुंबई यूनिवर्सिटी प्रेस, फोर्ट, मुंबई

प्रकाशक : अधिष्ठाता, मानविकी संकाय, कार्यालय, मुंबई विश्वविद्यालय, आंबेडकर भवन, विद्यानगरी परिसर, मुंबई

मूल्य : व्यक्तिगत : रु.150 प्रति अंक : रु.500 वार्षिक
संस्थागत : रु.250 प्रति अंक : रु.1000 वार्षिक

अनुक्रम

◆ *धरोहर*

अपने लेखन के बारे में /07

— *श्री कुबेरनाथ राय*

◆ *आलेख*

वैष्णव भाव और कुबेरनाथ राय के निबंध /20

— *डॉ. रमाकांत राय*

◆ **महाकवि की तर्जनी में मिथकीय चेतना** /26

— *डॉ. महात्मा पांडेय*

◆ **भारतीय चिंतन की परंपरा के प्ररिप्रेक्ष्य में कुबेरनाथ राय का चिंतन** /30

— *ऋषिकेश कुमार*

◆ **कुबेरनाथ राय का नृतत्वशास्त्र** /37

— *निशीथ राय*

◆ **ललित निबंधकार कुबेरनाथ राय** /43

— *डॉ. मनोजकुमार राय*

◆ **कुबेरनाथ राय के रामकथा विषयक लेखन का वैष्टिय** /50

— *डॉ. राम रघुवंश मणि*

◆ **कुबेरनाथ राय के निबंधों में भारतीयता** /55

— *श्रीनिवास त्यागी*

◆ **कुबेरनाथ राय की दृष्टि में तुलसीदास और रामचरितमानस** /66

— *आदित्य कुमार गिरि*

◆ **कुबेरनाथ राय के निबंधों में शिल्पगत प्रयोग** /80

— *अभिषेक कुमार पांडेय*

◆ **कुबेरनाथ राय की रचनाधर्मिता** /90

— *मुहम्मद हारून रशीद ख़ान*

◆ **मानस का वातायन** /98

— *डॉ. अपराजिता राय*

◆ **स्वाधीनता आंदोलन और भारतीय पत्रकारिता** /102

— *श्री विजयदत्त श्रीधर*

◆ ***शोधावरी मासिक व्याख्यान*** /114

◆ *किताबनामा*

शब्दप्रहरी कुबेरनाथ राय /119

— *डॉ. मनोजकुमार राय*

◆ *रचनाकार* /125

◆ *परिशिष्ट (संदर्भ साँचा)* /127

संपादकीय

जून 2020 से मुंबई विश्वविद्यालय की शोधपत्रिका के रूप में कोरोना काल की तालाबंदी के दौरान शोधावरी का आरंभ हुआ। मानविकी संकाय के अधिष्ठाता डॉ. राजेश खरात की प्रेरणा और प्रोत्साहन से हिंदी, मराठी और अंग्रेज़ी में संभाषण नाम से तीन शोधपत्रिकाएँ एक साथ शुरू हुईं। माननीय कुलपति एवं उप कुलपति महोदय ने इन पत्रिकाओं को सुदृढ़ आधार प्रदान किया और कुछ ही अंकों के पश्चात हिंदी संभाषण ने अपना नाम और रूप बदला तथा शोधावरी की शुरुआत हुई। धीरे-धीरे संपादन मंडल भी समृद्ध होता गया। जनवरी 2021 तक शोधावरी के कुल आठ विशेषांक प्रकाशित हुए। कबीर, प्रेमचंद, कोरोना, भाषा, गांधी, नेहरू, मानवाधिकार, संवैधानिक मूल्य जैसे विषयों पर केंद्रित अंकों का देशभर में स्वागत हुआ। इन आठ अंकों में विभिन्न विषयों पर विद्वानों, शोधार्थियों तथा प्राध्यापकों के लेख तथा शोधपत्र प्रकाशित हुए किंतु हम सबकी कामना थी कि शोधावरी को शोधपित्रका के रूप में विकसित होना चाहिए। हिंदी जगत में यूँ तो पत्र - पत्रिकाओं की कोई कमी नहीं किंतु शुद्ध अकादमिक शोधपत्रिकाओं का लगभग अभाव है। विगत आठ अंकों के संपादन के दौरान यह भी ध्यान में आया कि प्रतिमाह शोधपत्रिका प्रकाशित करना और शोधपत्र की गुणवत्ता बरकरार रखना काफी कष्टसाध्य कार्य है अत: अपने बुनियादी उद्देश्य की पूर्ति हेतु संपादन मंडल द्वारा निर्णय लिया गया कि शोधावरी की गुणवत्ता और निर्दोष प्रकाशन हेतु इसकी अवधि बढ़ाकर इसे त्रैमासिक किया जाय तथा इसे सिर्फ़ ऑनलाइन वितरित न करके इसका बक़ायदा प्रकाशन किया जाय।

इन्हीं योजनाओं और कामनाओं की परिणति है त्रैमासिक रूप में शोधावरी का प्रवेशांक जनवरी-मार्च 2021 का श्री कुबेरनाथ राय विशेषांक।

श्री कुबेरनाथ राय हिंदी के एक ऐसे रचनाकार हैं जिन्होंने भारतीय धर्म, दर्शन, इतिहास, मिथक, साहित्य, संस्कृति, कला, नृतत्वविज्ञान आदि महत्वपूर्ण विषयों पर न सिर्फ़ मौलिक चिंतन किया है बल्कि उसे अभिनव दृष्टिकोणों से बड़े ही काव्यात्मक और सौंदर्यात्मक ढंग से अभिव्यंजित किया है। श्री राय को उनके साहित्यिक योगदान के लिए मूर्तिदेवी पुरस्कार से सम्मानित किया गया किंतु भारतीय साहित्य जगत और चिंतन के क्षेत्र में उन्हें जो स्थान और सम्मान मिलना चाहिए था उससे वे आजीवन वंचित रहे। हालाँकि उन्हें इस बात का ख़ास मलाल भी नहीं रहा। वाराणसी से दूर गाज़ीपुर के एक छोटे से

गाँव में मनचाही पुस्तकों के अभाव में टुच्ची राजनीति और दूषित समाजनीति के बीच किसी साधक की तरह वे चुपचाप अपनी साहित्य साधना में डूबे रहे और स्वामी सहजानंद सरस्वती स्नातकोत्तर महाविद्यालय गाज़ीपुर के प्राचार्य पद से निवृत्त होने के पश्चात एक वर्ष में ही उनका देहांत हो गया।

गाज़ीपुर आने से पहले वे 1986 तक असम के नलबारी महाविद्यालय में अंग्रेज़ी पढ़ाते रहे और उनका सर्वोत्कृष्ट सृजन इसी दौरान संभव हुआ। असम में अलगाववादी शक्तियों के बढ़ते वर्चस्व और हिंसा की वजह से न चाहते हुए भी श्री राय को नलबारी छोड़कर एक दूषित शैक्षिक वातावरण में शरण लेना पड़ा जिसका असर उनकी रचनाओं पर बहुत गहरा पड़ा। उनके निबंधों का रस सूख गया और वे शुष्क चिंतनप्रधान हो गए। शुष्कता रस की तलाश में गहरे उतरती गई और गूढ़ विचारों के मोती उनकी कृतियों में सँवरते गए। मराल, कामधेनु, चिन्मय भारत तथा रामायण महातीर्थम् जैसी कृतियाँ इसका सर्वोच्च विकास हैं।

अपने समस्त लेखन में भारत की खोज करते कुबेरनाथ जी शाश्वत भारत का अनोखा और खरा रूप रचते हैं। मृण्मय और चिन्मय भारत के मणिकांचन योग से वे भारतीय कालदेवता के अजस्र प्रवाह को विविध प्रतीकों, मिथकों और बिंबों में बड़ी कुशलता से व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत अंक श्री राय के भारत बोध पर केंद्रित उस वेबिनार पर आधारित है जिसका आयोजन महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, इटावा तथा गुरुदेव टैगोर तुलनात्मक साहित्य अध्यासन, मुंबई विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्वावधान में श्री कुबेरनाथ राय के जन्मदिवस के उपलक्ष्य में 26 मार्च 2021 को हुआ।

कोरोना की दूसरी लहर अधिक संसर्गजन्य और अधिक घातक होकर उभरी है जिससे भारतवर्ष बेहद आक्रांत और विचलित नज़र आ रहा है। प्रतिदिन लाखों की संख्या में लोग इस व्याधि से संक्रमित हो रहे हैं किंतु मनुष्य की जिजीविषा और संघर्षशीलता कभी हार नहीं मानी। सारा देश ही नहीं, पूरी दुनिया मिलकर इस संकट से उबरने का प्रयास कर रही है और निश्चय ही एक दिन हम इस महामारी पर विजय प्राप्त करेंगे इसी विश्वास के साथ शोधावरी त्रैमासिक का यह प्रवेशांक आप सभी को समर्पित।

संपादन मंडल

धरोहर

अपने लेखन के बारे में

● श्री कुबेरनाथ राय

मैं ने 'माधुरी' (लखनऊ) और 'विशालभारत' (कलकत्ता) में छात्र-जीवन से ही लिखना प्रारम्भ किया था। परंतु सचेत ढंग से लिखने की शुरूआत हुई पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी की प्रेरणा से 1962 में 'सरस्वती' के माध्यम से। मेरे पहले ललित निबंध 'हेमंत की सन्ध्या' का स्वागत किया डॉ. धर्मवीर भारती ने 1964 में 'धर्मयुग' में। तब से लगातार निबंध, ललित निबंध एवं यदा-कदा रिपोर्ताज भी 'सरस्वती', 'धर्मयुग', 'ज्ञानोदय', 'माध्यम', 'वीणा', 'नया प्रतीक', 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' के अतिरिक्त अल्पज्ञात एवं अल्पकालीन पत्रिकाओं में भी लिखता रहा हूँ। मेरे प्रथम निबंध-संकलनों का प्रकाशन श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन की प्रेरणा से भारतीय ज्ञानपीठ से ही हुआ है। वे संकलन हैं 'प्रिया नीलकंठी' (1968), 'रस आखेटक' (1970), 'गंधमादन' (1972) एवं 'निषाद बाँसुरी' (1973-74)। इनमें 'निषाद बाँसुरी' विषय वस्तु की दृष्टि से एक नया प्रस्थान बिंदु है जिसकी चर्चा आगे करेंगे। प्रथम तीन संकलन और चौथा 'पर्णमुकुट' (1978) जो अन्यत्र से प्रकाशित है एक चतुष्टय बनाते हैं, जिनमें मेरी शैली और बोध का क्रमिक विकास देखा जा सकता है। अभिव्यक्ति और चिन्तन-परिपार्श्व की दृष्टि से इन्हें मैं एक वर्ग में रखता हूँ। तब मैं आधुनिक अंग्रेजी साहित्य, शेक्सपीयर, लैम्ब, हैजलिट तथा रवींद्रनाथ के प्रभाव से परिपूर्ण था और असम-बंगाल का साहित्यिक वायुमण्डल सुनील गांगुली के 'क्षुधित पीढ़ी' आंदोलन से आविष्ट था। मेरी गद्य-भंगिमा पर शेक्सपीयर के मनमौजी और उच्छृंखल गद्य का तथा रवींद्रनाथ के मनमौजी परंतु शालीन गद्य का संयुक्त प्रभाव पड़ा है। संभवत: उन्मुक्त और शालीन दोनों का यह संयुक्त प्रभाव ही मेरी गद्य-भंगिमा को समकालीन ललित निबंधकारों से अलग करता है। मैंने अपने विशुद्ध देशी संस्कारों की भूमि पर खड़े होकर दोनों के बीच 'रचनात्मक

सामंजस्य' (Cereative balance) अर्जित करने की चेष्टा की है। सच तो यह है कि हिन्दी भाषा (या किसी भी भारतीय भाषा) की अन्त:प्रकृति इतनी पवित्र और संस्कारशील है कि एक सीमा तक ही इसमें उच्छृंखलता चल सकती है और उस सीमा के आगे जाने पर यह फूहड़ और भदेस हो जाती है। 'खंजन-चांचल्य' तो इसमें चलता है परन्तु 'कपि-चांचल्य' के लिए बहुत अवकाश नहीं। अपनी भाषा के इस 'शील' का बोध मुझे निरन्तर सावधान रखता आया है। यही कारण है कि आधुनिकता के नाम पर फूहड़, ग्राम्य और भदेस की वकालत मैंने कभी नहीं की।

प्रिया नीलकंठी', 'रस-आखेटक', 'गंधमादन' एवं 'पर्णमुकुट' अभिव्यक्ति के हिसाब से एक वर्ग में आते हैं। इनमें मैं शुद्धत: ललित निबंधकार हूँ और लालित्य-बोध के साथ बौद्धिक रस का संप्रेषण एवं इसके द्वारा पाठक के मानसिक क्षितिज का विस्तार, यही मेरा उद्देश्य रहा है। इनकी वैचारिक पृष्ठभूमि में भारतीय साहित्य की क्लासिकल परम्परा, शाक्त-वैष्णव मनोभूमि और आधुनिकता-बोध ये तीनों ही रहे हैं, परंतु परस्पर पूरक रूप में। विषय प्राय: आसपास के लोकजीवन से ही लिये गये हैं अथवा भारतीय-साहित्य से। तब मैं असम में था और कलकत्ता-गोहाटी सांस्कृतिक दृष्टि से परस्पर संवेद्य रूप में जुड़े हुए थे। अत: वहाँ की हवा में भी 'क्षुधित पीढ़ी' की गंध थी। इसके घोषणा-पत्र में कहा गया था कि हम क्षुधित हैं और हमारी क्षुधा 'रस' की क्षुधा है। चूँकि क्षुधित व्यक्ति खाद्य-अखाद्य की परवाह नहीं करता, वैसे ही हमें भी 'रस' के सन्दर्भ में श्लील-अश्लील की परवाह नहीं। परंतु मेरे निजी वैष्णव संस्कार उनकी इस परिभाषा को स्वीकार कर सकने में असमर्थ थे। हिंदी जगत में भी उन दिनों गिंसबर्ग के 'हाउल' (Howl) तथा 'क्षुधित पीढ़ी' की नकल पर दर्जनों पीढ़ियाँ तथा 'अकविता' के आंदोलन चल रहे थे। ये सारे आंदोलन अकाल-प्रसव थे और इनके वातावरण में साँस लेते हुए भी मैं अपनी हिंदुस्तानी संस्कृति को इतना कसकर पकड़े हुए था कि यत्र-तत्र मेरी गद्य-भंगिमा पर इनका आवेश कभी-कभी भले ही आ गया हो, मुझ पर इनका कोई गहरा असर नहीं पड़ा। विधा के रूपगत प्रयोगों एवं कथन-भंगिमा के संदर्भ में मैंने छूट अवश्य ली है, परंतु मेरे ललित निबंधों का कथ्यगत उपजीव्य भारतीय रस-परम्परा और देशी लोक-संस्कृति ही रहे हैं। 'प्रिया नीलकण्ठी' और 'रस-आखेटक' मेरी प्रायोगिक स्तर की रचनाएँ हैं। अत: उनमें यत्र-तत्र उक्त आंदोलनों की प्रतिध्वनियाँ आ गयी हैं जिन्हें पढ़कर लोगों ने कहा था कि इन ललित निबंधों में 'नयी कविता' का आस्वाद मिलता है। 'रस-आखेटक' में जो 'क्रुद्ध ललित' की वकालत है वह इसी का उदाहरण मानी जा सकती है। बाद में मैंने अनुभव किया कि भारतीय साहित्य में 'क्रोध' तो कभी भी उपेक्षति नहीं रहा। ललित की ही एक भंगिमा के रूप में इसे सर्वदा स्वीकृति मिलती है। "मा निषाद प्रतिष्ठां'' वाले श्लोक का अर्थ तो कवि के क्रोध से जुड़ा है। परंतु सही क्रोध का उत्स 'करुणा' होना चाहिए! निरुद्देश्य विद्रोह, या अहंकार नहीं। इस तथ्य पर मेरा एक निबंध भी 'विषादयोग' में संकलित

है ‘महाकाव्य का जन्म’। ‘प्रिया नीलकंठी’, ‘रस-आखेटक’ एवं ‘गन्धमादन’ ये तीनों मेरे क्रमिक विकास को व्यक्त करते हैं। ‘गंधमादन’ तक आते-आते मैं अपना निजी ‘आत्मिक मूलाधार’ (Spieritual Base) पहचान गया और तब से मैं अपनी मूल प्रकृति से विचलित नहीं हुआ हूँ। ‘रस-आखेटक’ बीच की कड़ी है। नये पाठक को इसमें अधिक ताजगी और उत्तेजना मिल सकती है। बोध और अभिव्यक्ति दोनों क्षेत्रों में कैशोर्य्य अपरिपक्वता का चांचल्य और सम्मोहन इसमें वर्तमान है। इसमें पश्चिमी साहित्य के नवचिंतन को संदर्भानुसार पूरी ‘सामसुडौलता’ (Symmetery) की रक्षा करते हुए बीच-बीच में उपस्थित करता हुआ चला हूँ। इसका एकमात्र अभिप्राय रहा है हिंदी पाठक के मानसिक क्षितिज का विस्तार। अंत के तीन निबंधों में पश्चिमी साहित्य के तीन ऋषि कवियों-होमर, वर्जिल और शेक्सपीयर-को यथासम्भव उनकी ही भाषा और भाव-भंगिमा में मैंने उपस्थित किया है आत्मकथ्य की शैली में। परन्तु सर्वत्र मैं अपने देशी संस्कारों की जमीन पर ही खड़ा हूँ। मेरा उद्देश्य रहा है हिंदी पाठक के हिंदुस्तानी मन को ‘विश्व-चित्त’ से जोड़ना और उनको मानसिक ऋद्धि प्रदान करना। मेरे निबंध ‘भारतीय मन’ और ‘विश्व-मन’ के बीच एक सामंजस्य उपस्थित करने की चेष्टा करते हैं। ‘रस-आखेटक’ के प्रायोगिक स्तर की रचना होने के बावजूद इसके कुछ निबंध जैसे ‘जन्मांतर के धूम-सोपान’, ‘मृगशिरा’, ‘रोहिणी मेघ’, ‘वेणु कीचक’, ‘विरूपाक्ष’ आदि अपनी स्वतंत्र महिमा में आज भी मुझे महत्त्वपूर्ण लगते हैं। इनमें प्रवाह है, सहजता है तथा एक प्रलुब्धक बल है जो पाठक को खींच ले जाता है। स्वर्गीय रघुवीर सहाय ने इस संकलन की दिनमान में मुक्त कंठ से प्रशंसा की थी। तो भी यह सही है कि इन तीनों में सर्वोत्तम संग्रह ‘गंधमादन’ ही ठहरता है। ‘पर्णमुकुट’ में इसकी परम्परा का अनुधावन है। इसके कुछ निबंध विषयवस्तु और शैली की दृष्टि से ‘निषाद बाँसुरी’ में जाने चाहिए, जैसे ‘मधुमाधव’, ‘फागुनडोम’ और ‘आभीरिका’। ‘झरते क्षणों का पर्णमुकुट’, ‘घोड़े, घोड़े अरुणवर्ण घोड़े’, ‘मैं तालपत्र मैं भोजपत्र’ आदि उसी शैली के प्रौढ़ रूप में लिखे गये हैं जो ‘गंधमादन’ में आकर अपना स्थिर रूप ले चुकी थी। ‘पर्णमुकुट’ की अन्तिम रचना है ‘एक प्रतितीर्थंकर की कथा’ जिसमें भगवान महावीर के प्रतिद्वंद्वी एवं आजीवक संप्रदाय के जनक ‘मक्खलि गोशाल’ का व्यक्तित्व-चित्रण एवं रचनात्मक

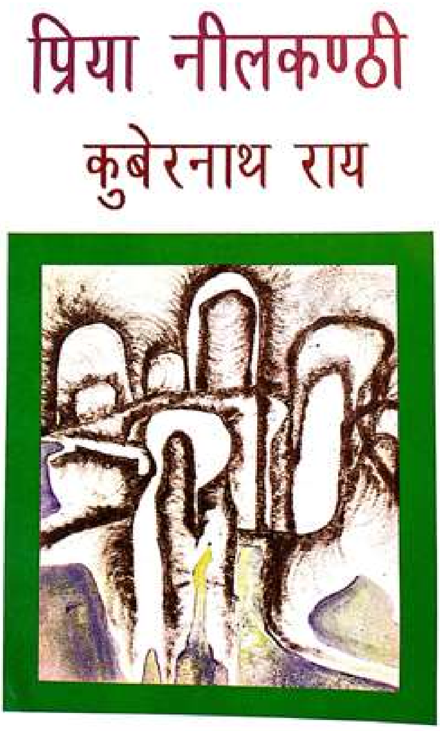

विवेचन है। वस्तुत: इस रचना में मैंने वक्रोक्ति का आश्रय लिया है। और मक्खलि गोशाल को अकाल प्रसवित आधुनिकता के नए-नए बौने तीर्थंकरों के प्रारूप के तौर पर प्रस्तुत किया है। मक्खलि गोशाल भारतीय चिंता के इतिहास में 'अनर्गल' (Absuerd) और 'नास्ति' के इन नए आधुनिक बालखिल्य पैगंबरों का 'पूर्व पुरुष' है। श्री वीरेंद्र कुमार जैन ने 'अनुत्तरयोगी' के लेखन में इस निबंध का उपयोग किया था। इसे उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है। मुझे खेद है कि 'पर्णमुकुट' जैसी प्रौढ़ रचना एक ऐसे प्रकाशक के हाथों में पड़ गयी जो इसका ठीक से प्रचार नहीं कर पाया।

'पर्णमुकुट' (1978), 'विषादयोग' (1974) तथा 'दृष्टि अभिसार' (1985) एक ही परंपरा में आते हैं यद्यपि इनकी प्रकाशन तिथि में पर्याप्त अंतर है। 'दृष्टि अभिसार' में जो बहुत बाद में निकली रचना है, मेरी सारी पूर्वगामी शैलियों का समाहार है। वस्तुत: क्रमिक विकास के पथ पर नयी दृष्टि और नयी दिशाएँ मुझसे जुड़ती गयी हैं तो भी मैं पूर्वगामी वृत्तियों का परित्याग न करके उन्हें नए के अनुकूल समायोजित करके चला हूँ और वे सभी मेरे निजी 'आत्मिक मूलाधार' का अंग बनती गयी हैं। 'दृष्टि अभिसार' में भूमिका के अंदर ललित निबंध की अपनी परिभाषा मैंने दी है और इसका अंतिम निबंध ललित निबंध नहीं बल्कि एक लम्बी आलोचनात्मक टिप्पणी है: 'प्रजागर पर्व में साहित्यकार'। महाभारत-युद्ध की पूर्व रात्रि को 'प्रजागर' रात्रि कहा गया है। मैं अपने इस कालखंड को वैसा ही प्रजागर पर्व मानता हूँ। आधुनिक साहित्य की स्थिति पर मेरा जो दृष्टिकोण है उसे मैंने विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया है। मैं इस निबंध को समसामयिक चेतना पर एक महत्त्वपूर्ण निबंध मानता हूँ। 'विषादयोग' का आधा भाग भी कमोबेश इसी 'थीम' पर है। उसमें महायुद्धोत्तर काल की दो प्रमुख विचारधाराओं पर निबंध और टिप्पणियाँ हैं। वे विचारधाराएँ हैं अस्तित्ववाद और नव्य वामपंथ। इसके द्वितीय संस्करण में नव्य वामपंथ के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि विचारक हिबर्ट मारक्यूस (Hibert Maercus) के चिंतन पर एक लम्बा निबंध है। इन सारे प्रयत्नों का एकमात्र उद्देश्य है पाठक की मानसिक ऋद्धि और बौद्धिक क्षितिज का विस्तार। मैं मानता हूँ कि किसी भी जाति की मूलप्रकृति का सच्चा थर्मामीटर है उस जाति का काव्य साहित्य और उसकी बौद्धिक गंभीरता तथा उदात्तता का परिचायक है निबंध साहित्य। यह मंत्र मुझे छात्रावस्था में स्वर्गीय काका कालेलकर के मुख से पहली बार सुनने को मिला था और इसमें मेरा विश्वास तभी से निरन्तर बना हुआ है। निबंध ही किसी जाति के 'ब्रह्मतेज' को व्यक्त करता है। ललित निबंध भी गद्य में काव्यधर्मी होने के बावजूद इस दायित्व से छुट्टी नहीं पा सकता।

मैंने दो सौ से ऊपर ललित निबंधों और सादे निबंधों को लिखा है। सबकी चची यहाँ संभव नहीं। अत: मैं अपनी बात मुख्य प्रवृत्तियों या मुख्य दिशाओं के विवेचन तक ही सीमित रखूगा। 'निषाद बाँसुरी' से मेरे लेखन की एक नवीन दिशा उद्घाटित होती है। मैंने 'गंधमादन' और 'पर्णमुकुट' में लब्ध अपने 'आत्मिक मूलाधार' का नहीं। परन्तु ऐसा करने से

समस्याओं के कुछ कोण अस्पष्ट और कुछ कोण सर्वथा अवहेलित रह जाते हैं। यह सही है कि संस्कृति मुख्यत: जीवन में प्रमूल्यों की बुनावट की ही एक संज्ञा है। प्रमूल्य या मूल्य जो कहें, प्राथमिक हैं। परन्तु ऐतिहासिक विकासक्रम और नृतात्त्विक पहचान द्वारा इस मूल्यपरक व्याख्या को अधिक स्पष्टतर किया जा सकता है और अवहेलित उपेक्षति कोण भी स्पष्ट हो जाते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि मूल्यों से निरपेक्ष रहकर केवल ऐतिहासिक-नृतात्त्विक दृष्टि पर भरोसा करके चलना अधिक गहरे अन्धकार में भटकना मात्र है। वाम-पंथी मार्क्सवादी व्याख्याओं की यही बहुत बड़ी कमी है और शायद मूल्यों को तमसाच्छन्न करके तर्कों के संवेदनहीन जंगल में भटकाना उनकी तार्किक व्यूह-रचना का एक अंग भी है। इस दोष के परिहार के लिए मैंने मिश्रित पद्धति का अनुगमन किया है। इन चारों पुस्तकों के अतिरिक्त 'कामधेनु' में भी इसी मिश्रित पद्धति का अनुगमन किया गया है। परंतु 'कामधेनु' में मूल्यपरक दृष्टि पर विशेष बल है और इसकी प्रकृति एवं लक्ष्य भी भिन्न हैं। अत: वह इस वर्ग से अलग है और इसकी चर्चा भी हम अलग से करेंगे। इन चार पुस्तकों में लक्ष्य तो लालित्य ही रहा है, पर उपलक्ष्य रहा है नृतात्त्विक-ऐतिहासिक और भाषा वैज्ञानिक पहलुओं का परिवेशन।

तो 'निषाद बाँसुरी' एक मोड़ है। भारत भूमि में 'आर्यावर्त' और 'अनार्यावर्त' के महासमन्वय की प्रक्रिया वैदिक युग में ही प्रारम्भ हो गयी थी। इसी बात को प्रतीकात्मक रूप में कहा गया अग्नि और परमेष्ठी के स्थान पर 'दक्ष' (जो मूलत: 'जक्ष/यक्ष' है) को नया प्रजापति घोषित करके। हिमालय की जनजातीय बोलियों में 'द' और 'ज' का विनिमय हो जाता है। दक्ष (यक्ष) कन्याओं से सारे आर्य पितरों का विवाह तथा केनोपनिषद में 'महायक्ष' एवं हेमवती उमा का अवतरण, आर्यलोक धर्म में यक्षोपासना का प्रवेश-ये सारी बातें महाकाव्य युग से पूर्व उत्तर वैदिक काल में घट चुकी हैं। आर्यभाषा और आर्य लोकधर्म में यक्ष-गंधर्व-किन्नर जातियों की भाषा और लोकधर्म का अनुप्रवेश घटित हो चुका है। 'यक्ष' वस्तुत: उसी नस्ल के मानवों का 'दिव्य प्रारूप' है जिसे पुराण 'नाग' या 'निषाद' कहते थे, आज इतिहास और भाषा विज्ञान मालय, कोलमुण्डा और 'आस्ट्रिक' कहता है। इसी तरह गंधर्वकिन्नर-आदिम किरात नस्ल के दिव्य प्रारूप हैं। यह 'भारत-महातीर्थ' आर्यावर्त और अनार्यावर्त का मिश्रित उत्तराधिकार है। 'निषाद बाँसुरी' में काशिका क्षेत्र की 'गांगेय लोक-संस्कृति' में अवशिष्ट इस निषाद की सांस्कृतिक छवियों का उद्‌घाटन है। 'गंगा' स्वयं निषाद भाषा का शब्द है और इस संकलन में चार निबंध गंगा नदी से जुड़े हैं। 'किरात नदी में चंद्रमधु' के निबंधों के ताने-बाने में 'किरात' प्रमुख है। इसमें कामाख्यापीठ की शाक्त साधना तथा असमिया जनजीवन से जुड़े कुछ निबंध संकलित हैं। 'मन पवन की नौका' में 'अगस्त्य तारा', 'बाली द्वीप का ब्राह्मण', 'रतन डोंगियाँ' तथा 'इरावदी में मेनाम-मीकांग' आदि निबंध 'वृहत्तर भारत' की छवियाँ प्रस्तुत करते हैं। 'उत्तर कुरु' की भावभूमि का सम्बन्ध महाभारतीय संस्कृति है जिसकी वर्तमान उत्तराधिकारिणी है शौरसेनी हिंदुस्तानी संस्कृति। 'निषाद बाँसुरी' के

निबंध 1970-72 के बीच लिखे गये थे। तब से आज तक मेरे ललित निबंधों में अंतर्धारा की तरह यह 'महाभारतीय' दृष्टि अनवरत रूप से वर्तमान रही है। अवश्य इस दृष्टि को प्राधान्य उक्त चार पुस्तकों में ही विशेष रूप से दिया गया है।

भारतीय संस्कृति या भारतीयता क्या है? यह एक 'अति प्रश्न' (चरम प्रश्न) है। 'अति प्रश्न' का उत्तर परिभाषित करना सम्भव नहीं। जहाँ परिभाषा सम्भव नहीं वहाँ एक मात्र समाधान है 'पहचान' बनाना। 'कामधेनु' में भारतीय संस्कृति की अस्मिता को उद्घाटित करनेवाले कुछ बिंबों, यथा कामधेनु, देवी, नटराज, शेषशायी, श्रीदेवता (वैदिक), 'सिरी' देवता (यक्ष) आदि को लिया गया है और उनकी मूल्यपरक एवं ऐतिहासिक-नृतात्त्विक दृष्टि से, विमिश्र पद्धति में विवेचना की गयी है। ये बिंब 'भारतीयता' की पहचान हमारे लिए सुगम करते हैं। इस पुस्तक का एक लघु संस्करण कुछ वर्ष पहले निकला था। बाद में इसका मूल मैटर अल्प संशोधित करके इसमें आधा 'मैटर' नया जोड़ दिया गया और यह एक नयी पुस्तक जैसी हो गयी। मेरी इच्छा थी इसे नये शीर्षक 'जंबूद्वीप' के नाम से प्रकाशित कराना। परंतु 'कामधेनु' शब्द का मोह मैं छोड़ न सका और यह प्रथम 'नेशनल' संस्करण (1990) में भी 'कामधेनु' नाम से ही प्रकाशित हुआ। मेरे लघु पितामह (पितामह के छोटे भाई) पं. बटुकदेव शर्मा ने महायुद्ध के पूर्व

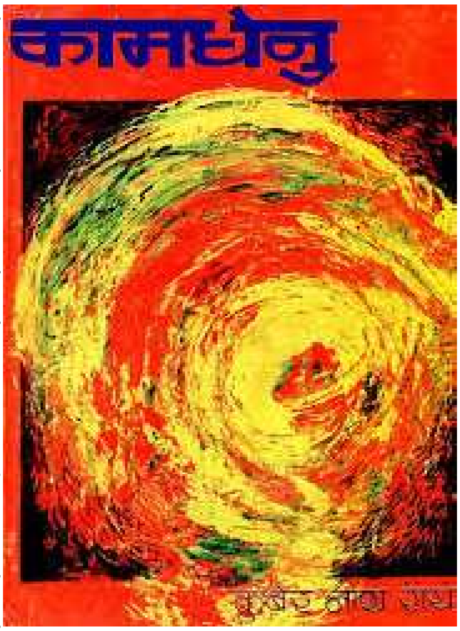

कलकत्ता से एक कृषि और गोरक्षा पर 'कामधेनु' नामक मासिक पत्रिका निकाली थी जो दो साल से ज्यादा चली नहीं। इस नाम के प्रति एक आकर्षण बचपन से ही मेरे मन में था। कृषक परिवार में 'धेनु' का महत्त्व तो सर्वविविदित है ही। परंतु इन बातों के अतिरिक्त भी एक अन्य कारण था जो अधिक मार्मिक है। फारसी के एक प्रगतिशील मुस्लिम विद्वान की स्थापना है कि उमरखय्याम की रुबाइयाँ प्राचीन ईरानी राष्ट्रीयता के आर्तनाद की अभिव्यक्ति हैं और यह राष्ट्रीय कविता है। उनके अनुसार प्राचीन ईरानी आर्य-संस्कृति यानी 'पहलवी' संस्कृति का केंद्रीय बिम्ब है 'मधु' अर्थात सुरा। सुरा का आविष्कार भी प्रथम ईरानी सम्राट जमशेद द्वारा हआ है। पहलवी आर्य-संस्कृति आनंदप्रधान थी और 'सुरा' केंद्रीय तत्त्व था। उमरखय्याम के समय वह नृत्यगीत आनन्दप्रधान संस्कृति सेमेटिक इस्लामी धर्म के शुद्धतावादी रूप से आक्रान्त होकर मर चुकी थी और उमर की रुबाइयाँ अप्रत्यक्ष रूप से उस मृत संस्कृति के आर्तनाद को व्यक्त करती हैं। इसी से 'मधु' (सुरा) और 'प्रेमिका' को उसमें केंद्रीय महत्त्व दिया गया है।

यह बात तो मैं भी जानता था कि रुबाइयों का दर्शन पूरा-पूरा इस्लाम से मेल नहीं खाता।

परंतु यह व्याख्या मेरे लिए सर्वथा नयी थी। मुझे इसने यह सोचने की प्रेरणा दी कि यदि ईरानी आर्य 'लोक-संस्कृति' का केंद्रीय बिंब सुरा और प्रेमिका है तो भारतीय आर्य की 'लोक-संस्कृति' का केंद्रीय बिंब क्या होगा। सैंधव सभ्यता के वृषभ, विश्वेश्वर के 'नंदी' और गोपाल की 'गैया' और घर-गाँव की गोमाता मेरे विचारों में उपस्थित होने लगे और मेरा निष्कर्ष यही रहा कि शील, स्वभाव, नीतिबोध, सौंदर्यबोध एवं दैनिक जीवन हर दृष्टि से भारतीय आर्य-संस्कृति का केंद्रीय बिंब यही 'गौ' या 'धेनु' ही है। 'कामधेनु' वैदिक आर्य की 'प्रज्ञाधेनु' है। अत: यही नाम मुझे सर्वथा उपयुक्त लगा और इस वर्तमान 'नेशनल' संस्करण का शीर्षक भी मैंने 'जंबूद्वीप' न रखकर 'कामधेनु' ही रखा। इसमें 'देवी' और 'मायाबीज' का संबंध भारत की तांत्रिक और आगम संस्कृति से है। 'कामधेनु' और 'श्रीदेवता' के बिम्ब वैदिक (निगम) साहित्य से आते हैं। 'नटराज' और 'शेषशायी' आर्य-आर्येतर संयुक्त साधना से लब्ध बिंब है। 'सिरी देवता' यक्षोपासना का अवदान है। 'शंख और चक्र' सांख्य-योग का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'लोक-चक्षु भगवान कपिल' का सम्बन्ध सांख्य की अनीश्वर और ईश्वरवादी उभयनिष्ठ भूमि से है जिस पर भारत की वैष्णव-शैव-शाक्त संस्कृतियों का 'ढाँचा' खड़ा है वेदांत को शिखर पर प्रतिष्ठित करके।

भारतीय संस्कृति के तीन आधार हैं, वैदिक, तांत्रिक और लोकायत। जब श्रुति-प्रमाण की बातें की जाती हैं तो प्राय: प्रथम दो की बात होती है। परंतु मैं लोकायत अर्थात 'लोक-ऐतिह्य में स्थापित और स्वीकृत' को भी उतना ही प्रामाणिक मानता हूँ। अत: मेरी समझ से श्रुति तीन प्रकार की है: वैदिक, तान्त्रिक और लोकायत। 'लोकायत और आदिम श्रद्धा' नामक निबंध में मैंने 'लोकायत' शब्द को प्राचीन चार्वाकवादी या आधुनिक भौतिकवादी अर्थों से मुक्त करके स्वतन्त्र रूप में 'लोकेषु आयत्त', 'लोक-ऐतिह्य' या 'लोक-परम्परा में स्थापित एवं स्वीकृत' इसी अर्थ से जोड़कर देखा है और जिसे आधुनिक पंडित 'आदिम भौतिकवाद' (Peroto-Materialism) कहना चाहते हैं, उसे मैंने 'आदिम श्रद्धा' या 'आदिम अध्यात्मवाद' (Peroto-Spieritualism) के रूप में देखने का प्रस्ताव किया है। भारतीय चिन्ता की एक अपनी निजी वाम परम्परा रही है जो ऋषभदेव, गौतम बुद्ध से लेकर कबीर-नानक से होती हुई आर्य समाज और ब्रह्म समाज तक जीवन्त रूप में चल रही है। यह वामधारा भी अपने किसी स्तर पर भौतिकवादी नहीं रही है। यह वाम इस अर्थ में है कि यह रूढ़ि और कर्मकांड की विरोधी है और स्वतंत्र सत्य-जिज्ञासा को लेकर चलती है। यह 'अनुभव-सत्य' ('अनभै-साँचा') में विश्वास करती है, शास्त्र-सत्य में नहीं। परंतु इसकी सत्य-जिज्ञासा का प्रस्थान बिंदु 'पराभौतिक' है और लक्ष्य है अध्यात्म। वस्तुत: यह मुख्य धारा की तुलना में अधिक विरागमुखी, अधिक दमनशील और अधिक आध्यात्मिक है। भारतीय असुरों का देहवाद भी 'देह-रहस्य'-वाद है। वैरोचन 'देह ही आत्मा है' मानकर देह को एक रहस्यमय सत्ता मानने की शुरुआत करता है और आगे चलकर मानुषी देह की इसी रहस्यमयता से योगदर्शन के षट्चक्रों का

सिद्धांत विकसित होता है। सांख्य को भी अनीश्वरवादी मानकर उसे भौतिकवादी दल में दाखिल करने की कोशिश होती है। परंतु यह अनीश्वरवादी सांख्य अर्थात 'प्रकृतिकारणवाद' किसी भी अर्थ में भौतिकवादी नहीं। यहाँ 'प्रकृति' एक वैश्विक पराशक्ति के रूप में स्वीकृत है। और भारतीय दर्शन में प्रकृति का अर्थ मात्र 'भौतिक निसर्ग' नहीं होता। प्रकृति के भीतर मनबुद्धि और अहंकार भी आ जाते हैं। अत: प्रकृति शब्द के आधुनिक अर्थ से इसे समीकृत करने का अनर्थ नहीं होना चाहिए। सांख्य दर्शन अपने दोनों प्रारूपों में और लक्ष्य में शुद्धत: 'पराभौतिक' है। भौतिकवाद के शुद्ध प्रतिनिधि भारतीय दर्शन में चार्वाक और कुछ बौद्धकालीन संशयवादी विचारक, यथा अजितकेश कंबली, रहे हैं। परंतु इस देश की वैचारिक और सांस्कृतिक परम्परा में उन्हें कभी कोई स्थान नहीं दिया गया। भारतवर्ष की लोकायत परम्परा भी वेदांती अर्थ में अध्यात्मवादी सर्वदा भले ही न रही हो, 'पराभौतिकवादी' यानी 'आत्मिक' अवश्य रही है। आदिम 'श्रद्धा' भी श्रद्धा ही है और गीता के 'विभूति-योग' में देवता की मर्यादा पा चुकी है। अंतिम निबंध है 'लोकचक्षु भगवान कपिल'। इसका 'रूप' (Form) कथात्मक है। पर यदि उपनिषद के संवाद 'नाटक' नहीं माने जाते तो यह रचना भी कथा नहीं, कथा की भंगिमा में प्रस्तुत निबंध है। इसमें सांख्य दर्शन की कुछ विवादास्पद स्थितियों का समाधान अपने ढंग से प्रस्तुत किया गया है। भारत का प्रधान चिंतन वेदांत है। परंतु बिना सांख्य को ठीक-ठीक समझे वेदांत के वैष्णव-शाक्त-शैव संस्करणों को ठीक-ठीक समझना कठिन है। आधुनिक भारतीय संस्कृति की मुख्य धारा का प्रतिनिधित्व तो वैष्णव-शाक्त-शैव सम्प्रदाय ही करते हैं और इनका धड़ है सांख्य तो शीर्ष है वेदांत। अत: सांख्य का महत्त्व समान है। 'कामधेनु' में वाल्मीकि-गाथा पर एक स्वतंत्र प्रयोग भी है 'महाकवि की कन्या' तथा रामायण की 'थीम' को सौरकथा का रूपक देते हुए एक छोटी-सी रचना है 'दिवस का महाकाव्य'। रामकथा पर मेरी पुस्तक 'त्रेता का वृहत्साम' इसी छोटी रचना का एक वृहत्तर फलक पर प्रस्तुत किया गया एक उपवृंहण है।

भारतीयता की परिभाषा क्या है? इसे चरम और पूर्णांग रूप में मैं वाक्यों द्वारा बताने में असमर्थ हूँ। परंतु तीन ऐसे शब्द हैं जिन्हें समझने का सामर्थ्य हो तो भारतीयता क्या है इसका उत्तर मिल जाता है। प्रथम शब्द है 'ॐ'। परंतु इसे मैं स्वयं ठीक-ठीक नहीं समझता। यह बड़ा ही रहस्यमय शब्द है। दूसरा शब्द है 'शिव'। इसे मैं थोड़ा बहुत समझता हूँ। तीसरा शब्द है 'राम'। इसे मैं जीवन के प्रारम्भ से ही समझने की चेष्टा कर रहा हूँ। यह जनमानस के सर्वाधिक निकट है। 'शिव' से भी निकट। क्योंकि 'शिव' देवता हैं, हद से हद 'बाबा' हैं। परंतु। 'राम' तो भाई, बेटा, पति, सब कुछ बन सकता है। यह भारत के पारिवारिक जीवन में घुला-मिला है, साथ ही साथ साधना के अनहदनाद के शिखर पर भी इसका सिंहासन है। अत: 'राम' शब्द के मर्म को पहचानने का अर्थ है भारतीयता के सारे स्तरों के आदर्श रूप को पहचानना। मेरे लेखन की एक दूसरी प्रमुख दिशा इसी 'राम' की महागाथा से संयुक्त है।

राम 'मनुष्यत्व' के आदर्श की चरम सीमा हैं।

सही भारतीयता क्षुद्र, संकीर्ण, राष्ट्रीयता के दम्भ से बिल्कुल अलग तथ्य है। यह 'सर्वोत्तम मनुष्यत्व' है। पूर्ण 'भारतीय' बनने का अर्थ है 'राम' जैसा बनना। वेदांत 'ब्रह्म-जिज्ञासा' है तो काव्य 'पुरुष-जिज्ञासा'। मेरा लेखन इसी 'पुरुष जिज्ञासा' से जुड़ा है। रामकथा पर मेरा पहला निबंध 'गंधमादन' में है, 'रामस्य करुणो रस:'। दूसरा निबंध 'विषादयोग' में है 'महाकाव्य का जन्म'। 'कामधेनु' में भी दो प्रयोग हैं जिनकी चर्चा मैंने ऊपर की है। परंतु रामकथा को ही प्रमुख विषय बनाकर मेरे दो प्रमुख संकलन हैं : 'महाकवि की तर्जनी' और 'त्रेता का वृहत्साम'। प्रथम में 'वाल्मीकि'-समस्या और रामकथा में शीलतत्त्व का अध्ययन ललित निबंधों की विधा में प्रस्तुत किया गया है। यह पुस्तक पर्याप्त लोकप्रिय और सम्मानित हुई है। दूसरी पुस्तक 'त्रेता का वृहत्साम' में रामकथा के भीतर सौरतत्त्व, सौर रहस्यवाद (सावित्री-तत्त्व) एवं तेज तथा तपस से जुड़े कुछ प्रसंगों पर ललित निबंध प्रस्तुत किये गये हैं। वाल्मीकि ने रामायण में आर्ष गोपन शैली में सावित्री के चारों रूपों की अहल्या (गायत्री), सीता (सावित्री), अनसूया (सरस्वती) और त्रिजटा (निशीथ-गायत्री 'तुरीया') के रूप में स्थापना की है। इस रहस्य का विवेचन इस पुस्तक में है। इसके अतिरिक्त रामकथा के अनेक मार्मिक प्रसंगों के अंतर्निहित सौंदर्य का उद्घाटन करते हुए कुछ ललित निबंध हैं, जैसे 'कठिन भूमि कोमल पग', 'अकाल बोधन', 'पंचाप्सर की मारकन्याएँ' आदि। रामकथा पर एक तीसरी पुस्तक भी मैं लिख रहा हूँ जो इस विषय पर मेरी अंतिम पुस्तक होगी। इस मिथक के बिम्बों और मूल ढाँचे की संरचना के संबंध में अपना दृष्टिकोण इसमें प्रस्तुत करने की चेष्टा करूँगा। मेरा उद्देश्य है रामकथा के भावात्मक और बौद्धिक-सौंदर्य का उद्घाटन। इस दृष्टि से रामायण पर हिंदी में लिखा ही नहीं गया है। फादर कामिल बुल्के की रामकथा, मिथक के विकास का एक पूर्णांग विवेचन है। परंतु उसमें शोध-दृष्टि का प्राधान्य है और रस-दृष्टि उपेक्षित है। शेष जो कुछ लिखा गया है वह तो पिष्टपेषण मात्र है। मैं ललित निबंधों के माध्यम से रामकथा को एक नये बौद्धिक सम्मोहन से मंडित करना चाहता हूँ। कितना कर पाता हूँ यह भी 'राम' पर ही निर्भर है।

रामकथा के बाद जिस विषय से मैं आकर्षित रहा हूँ वह है गाँधी-चिंतन। सर्वोदय के रसशास्त्र के कुछ सूत्रों पर मैंने पत्रविधा में एक छोटी-सी पुस्तक लिखी है 'पत्र, मणिपुतुल के नाम'। इस विषय में कुछ विस्तार से लिखने की मेरी इच्छा थी। इच्छा अब भी है, परंतु कब पूरी होगी, कह नहीं सकता हूँ। मैं मानता हूँ कि मनुष्य के सारे कर्म-कलाप के मूल में है उसकी इच्छाशक्ति। यह इच्छाशक्ति उसके रसबोध और सौन्दर्य-रुचि से सीधे जुड़ी है। रसबोध और रुचि ही हमारे दैनंदिन जीवन के शुभ और अशुभ का स्रोत है। अत: यदि ये दोनों स्वस्थ, पवित्र और उच्चगामी रहें तो व्यक्ति का जीवन एवं प्रकारान्तर से समूह का जीवन स्वस्थ, पवित्र और उच्चगामी रहेगा। इसके लिए एशिया के गरीब देशों और भारतवर्ष के संदर्भ में सर्वोत्तम सूत्र है "शांतं, सहजं, सुंदरम"।

जो शांत है अर्थात उग्र और उत्तेजक नहीं है, जो सहज है अर्थात स्वाभाविक है कृत्रिम या आरोपित नहीं है, वही असली सुंदर है। यह गाँधीवादी सूत्र मुझे आज की बढ़ती कृत्रिमता और उपभोक्ता संस्कृति के विलासपूर्ण विस्तार के सन्दर्भ में रसबोध और रुचि का सर्वोत्तम एवं सर्वाधिक उपयोगी सूत्र लगता है और भारतीय मनोभूमि के यह सर्वाधिक निकट है। वस्तुत: देखा जाए तो गंगातीरी लोक-संस्कृति, रामकथा और गाँधी-दृष्टि तीनों के भीतर एक ही गुप्त सारस्वत धारा है और उसका नाम है भारतवर्ष। मेरा लेखन इन तीनों से जुड़ा है अर्थात भारत के सहज चिन्मय रूप से जुड़ा है। इनसे जुड़कर ही मैं मनुष्य के मनुष्यत्व को पहचानने में समर्थ हूँ। इनसे जुड़कर ही मेरा सारा लेखन 'मूल संश्लिष्ट' (Rooted) बना रह सका है और मैं छिन्न-मेघ की तरह अस्त-व्यस्त होकर युग की हवा में अस्तित्वविहीन नहीं हो पाया। और लोगों की दृष्टि में यह जो 'वाद' हो, इसकी मैं बहुत परवाह नहीं करता। मैं अपने इस आत्मलब्ध सत्य के प्रति ईमानदार रह सकूँ, यही मेरी उपलब्धि होगी और यही मेरी पहचान होगी।

मेरे बारे में कभी-कभी कहा जाता है कि मैंने अनावश्यक रूप से अज्ञात या अल्प ज्ञात शब्दों का प्रयोग किया है और इससे पाठक को कष्ट होता है। पहली बात तो यह कि निबंधकार का एक मुख्य कर्तव्य होता है पाठक की मानसिक ऋद्धि और बौद्धिक क्षितिज का विस्तार करना। यदि वह पाठक के बौद्धिक स्तर को ही लक्ष्मण-रेखा मानकर चलेगा तो यह सम्भव नहीं है। बहुत से पुराने शब्द हैं जो अत्यन्त अभिव्यक्ति-प्रवण हैं। परन्तु प्रयोग न होने से लोग भूल गये हैं। उदाहरण के लिए 'सिनीवाली' शब्द को लें। अमावस्या के हृदय में निवास करनेवाली चंद्रमा की षोडशी कला 'सिनीवाली' है जो कभी मरती नहीं, कभी अस्त नहीं होती! इसका प्रतीकात्मक अर्थ बड़ा ही उदात्त है। यह शुद्ध भारतीय शब्द है। 'सिनीवाली' के ठीक उलटा है 'कुहू' अर्थात 'तमस' की वह कला जो अमर्त्य है और 'राका' (पूर्णिमा) के हृदय में निवास करती है। इसी तरह एक शब्द है 'सुर्मी'। "वह एक सुर्मी नायिका थी।" इसमें 'सुर्मी' कितना अभिव्यक्तिपूर्ण है, इसका अर्थ जान लेने पर पता चलता है। प्राचीनकाल में व्यभिचारी की सजा थी आग में तप्त नारी की लौह-प्रतिमा से आलिंगन करवाना। उस प्रतिमा को 'सुर्मी' कहते थे। जाहिर है कि शब्द अल्पज्ञात होने पर भी जानने लायक है। मेरे सम्पूर्ण साहित्य में इस कोटि के शब्द दो दर्जन से ज्यादा नहीं। इतना किसने नहीं किया है। 'दिनकर' सादी भाषा लिखते थे। पर 'कुरुक्षेत्र' में "प्रत्यय किसी बूढे कुटिल नीतिज्ञ के व्यवहार का। हृदय जिसका उतना मलिन जितना कि शीर्ष वलक्ष है।'' 'प्रत्यय', 'व्यवहार' और 'वलक्ष' महाभारतकालीन शब्द हैं। साहित्य का सूक्ष्म आलोचक जानता है कि उक्त संदर्भ में ये ही शब्द सर्वाधिक उपयुक्त हैं। 'उपरति' और 'सम्पराय' जैसे शब्दों का प्रयोग चलता है। प्रत्येक लेखक को ऐसा करना पड़ता है और वह सकारण ऐसा करता है। 'मानस' में गोसाँई जी ने 'आशा' (दिशा), वात (समूह), विधुंतुद' (राहु), 'प्रत्यूह' (उलझन), 'घुणाक्षरन्याय' (संयोगवश) जैसे शब्दों का

प्रयोग किया है। शुद्ध कथोपकथन में भी "देखु विभीषण दक्षिण आसा'' में 'आशा' दिशा के लिए आया है। लेखक का कर्तव्य है पाठक को अपनी भाषिक संस्कृति से जोड़ना। यह कार्य पाठक की बौद्धिक दरिद्रता को ही अपनी सीमा स्वीकार कर लेने पर सम्भव नहीं है। सच्चाई तो यह है कि यदि बीच में भक्तिकालीन साहित्य का उदय नहीं हुआ होता तो लोग यह भी भूल गये होते कि 'रवि' और 'भानु' का अर्थ भी 'सूरज' ही होता है। मेरे बारे में दूसरा एतराज है कि मैं भोजपुरी शब्दों का अधिक प्रयोग करता हूँ जिससे अन्य क्षेत्रीय बोलियों वाले पाठक को कठिनाई होती है। यह एतराज अवश्य ही सार्थक है। परंतु कभी-कभी ऐसा होता है कि खड़ी बोली में उस शब्द का प्रतिशब्द मुझे नहीं मिलता। उदाहरण के लिए 'अदहन' शब्द है। भात बनाने के लिए गर्म किया गया जल 'अदहन' है। मैंने इसका प्रयोग किया है। इससे हिंदी के 'महाकोश' की वृद्धि होगी। सूक्ष्म अभिव्यक्ति के लिए लोकभाषाओं से बल प्राप्त करना ही होगा। सूर-तुलसी ने भी ऐसा ही किया है। तुलसी ने 'फुर' शब्द का 'सच' के अर्थ में बहुत प्रयोग किया है जो अवधी का है। "भा भिनुसार गोदारा लागा।''

'गोदारा' शुद्धत: देशी शब्द है। इसका अर्थ होता है 'नौका-संघट्ट-"जल्दी करो, गोदारा लगा है! अन्यथा नाव छूट जाएगी।'' यह वाक्य नदी-तट पर अब भा सुनाई पड़ जाता है। मैंने जहाँ-जहाँ ऐसा किया है वहाँ उसी वाक्य में या आगे उसका अर्थ खोलता गया हूँ। जैसे मैंने 'निषाद बाँसुरी' में 'झिझिरी' शब्द का प्रयोग किया तो इसके आगे अर्थात 'नौका-विहार' वाक्यांश जोड़ दिया है। नाव के अगले-पिछले हिस्सों के लिए क्रमश: 'गलई' और 'गोछा' शब्द का प्रयोग करत समय मैंने उनका अर्थ वहीं पर खोल दिया है। दिक्कत इसलिए होती है कि आज का नव शिक्षित न तो पुराने साहित्य से परिचित है और न आसपास के लोकजीवन से। उसका शब्द भंडार अत्यन्त दरिद्र है! अत: लेखक का कर्तव्य हो जाता है उसे देश की क्लासिकल और लौकिक 'भाषिक संस्कृति' से पुन: जोड़ना। यह कार्य उसे शब्दों से परिचित कराकर ही हो सकता है।

आचार्य सुनीति कुमार चटर्जी ने अपने एक निबंध में लिखा है कि तुलसी की भारतव्यापी सफलता का रहस्य उनकी भाषा में है। उनकी भाषा में जो 'तद्भवता' है वह अपने पीछे 'तत्सम' भाषिक संस्कृति का बल लेकर खड़ी है। हिंदी भाषा ने महज पचास वर्षों में अंग्रेजी की तीन सौ वर्षों की दौड़ पूरी कर डाली, तो इसी कारण कि उसने भाषा की तत्सम संस्कृति का आश्रय लिया और इस कार्य में उसे प्रेरणा बांग्ला भाषा से ही मिली थी। भाषा के प्रश्न को सतही या काम-चलाऊ दृष्टि से नहीं ग्रहण करना चाहिए। यह एक गंभीर प्रश्न है। प्रत्येक भाषा का मूल उसकी अपनी संस्कृति में बड़ी गहराई से जाता है जिससे वह जन्म लेती है, यद्यपि उसका विकास देशकाल के मुक्त इतिहास में होता है। वनस्पति पर वातावरण और मौसम का प्रभाव अवश्य पड़ता है, परंतु वनस्पति की मूल प्रकृति नहीं बदलती, आम इमली नहीं बन जाता। साथ ही जड़ से विच्छिन्न होने पर वनस्पति जीवित नहीं रहती। यही बात

हिंदी भाषा या किसी भी भाषा के बारे में है। तात्कालिक सुविधा को इस सन्दर्भ में चरम महत्त्व देना उचित नहीं। कबीर ने भाषा के बारे में एक अर्धसत्य चला दिया, "संस्कृत कबिरा कूप जल, भाषा बहता नीर।'' 'भाषा बहता नीर' तो सत्य है परंतु 'संस्कृत कूप जल' असत्य है। भाषा का यह बहता नीर आता कहाँ से है? आकाश के मेघ से अथवा हिमवाहों के पिघलने से। तो संस्कृत की भूमिका ठोस हिमवाहों और वाष्पीय मेघों की है। संस्कृत जब पिघलती है या बरसती है तो वही 'पेय' जल बनकर 'भाषा' का रूप लेती है। भारतीय संदर्भ में यह अनिवार्य अमोघ सत्य है। इसी से कबीर का बहु प्रचारित भाषा-सूत्र एक सीमा के भीतर ही सत्य है, उसके आगे वह मिथ्या प्रमाणित होता है। हमारी संस्कृति पर जब विजेता सेमेटिक संस्कृति का आक्रमण हुआ तो उसको हमने अपने साहित्य और अपनी भाषिक संस्कृति के ही बल पर झेला था। शब्दों के भूल जाने का अर्थ होता है संस्कारों को भूल जाना। सेमेटिक संस्कृति ने ईरान, खुरासान, अफगानिस्तान की आर्य भूमियों में यही कराना चाहा। हिन्दुस्तान में उसे 'उर्दू' के रूप में ही आंशिक सफलता मिली। आंशिक इसलिए कि उर्दू भी ले-देकर संस्कृत के ही तद्भव रूप पर मुख्यत: आधारित है। केवल अलंकरण के लिए ही विजेता भाषा के कुछ विशेषणों और संज्ञाओं को ग्रहण करती है। हमारी भाषिक संस्कृति पर दूसरा आक्रमण हुआ लार्ड मैकाले की शिक्षा-नीति द्वारा। प्रत्यक्ष रूप से यह देशी भाषाओं की विरोधी नहीं। परंतु इसका उद्देश्य था एक ऐसी मानसिकता पैदा करना जो स्वदेशी और संस्कृत से जुड़ी हर बात के प्रति उपेक्षा और अश्रद्धा को लेकर चले। प्रारम्भ के दिनों में राममोहन रवींद्र-विवेकानंद-गाँधी जैसे पुरुष मौजूद थे। इनकी मेधा स्वदेशी भाषा और स्वदेशी संस्कृति से परिपुष्ट हुई थी। भक्तिकालीन साहित्य से घनिष्ठ परिचय होने के कारण जनसामान्य भी अपनी निजी भाषिक संस्कृति से विच्छिन्न नहीं था। परन्तु इसका असर सौ वर्ष बाद जाहिर होने लगा है। एक ऐसे वर्ग का उदय हो चुका है जो हर क्षेत्र के कर्ताधर्ता हैं। परंतु भाषिक और सांस्कृतिक दृष्टि से वे 'बाहरी' या 'आउट साइडर' हैं। वे 'छिन्नमूल' बुद्धिजीवी हैं। ऐसी हालत में 'भाषा बहता नीर' पर संतोष करने की सलाह देनेवाले लोग ईमानदार नहीं हैं। आज 'भाषा बहता नीर' भी देश की आत्मा पर स्थायी दखल जमाने का धारदार हथियार बन रहा है। अत: इस प्रश्न पर बहुत सतही या तात्कालिक लाभ की दृष्टि से सोचना आत्म-प्रवंचना होगी। हिंदी ऐसी होनी चाहिए जिसे समग्र भारतवर्ष समझेगा और इसका महाकोश (1) लोकभाषा, (2) प्रांतीय भाषा (बांग्ला, तमिल आदि) और (3) संस्कृत भाषा के सहयोग से विस्तृत होगा। भाषा की दृष्टि से दिल्ली ही सारा हिन्दुस्तान नहीं है। हिन्दी को यदि वह भूमिका निभानी है जिसे संस्कृत अभी तक निभा रही थी तो उसे संस्कृत जैसा बनना होगा। तभी वह शिक्षा संस्कृति, विज्ञान और साहित्य की दृष्टि से 'राष्ट्रभाषा' बन सकेगी। अन्यथा उसे मात्र 'जनभाषा' बनकर संतोष कर लेना होगा और दुनिया के नक्शे पर भारत एक 'राष्ट्रभाषा'-विहीन देश होगा। पुनश्च

आज भारत की सारी व्यवस्था, अर्थ, राजनीति, शिक्षा, संस्कृति और साहित्य, प्रत्येक क्षेत्र में 'छिन्नमूल' नवशिक्षति बुद्धिजीवियों के हाथ में आ गयी है और वे जन्मतः भारतीय होते हुए भी मानसिक, बौद्धिक रूप से 'आउट साइडर' हैं। इसी से चालू हवा के खिलाफ जाकर मैं भारतवर्ष से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हूँ। परंतु जिस 'भारत' की बात मेरे सम्पूर्ण साहित्य में आती गयी है वह है इस देश का 'चिन्मय' और 'मनोमय' संस्करण। वह चिन्मय और मनोमय रूप किसी प्रकार की क्षुद्रता और संकीर्णता से ऊपर है! शिवत्व, बुद्धत्व, रामत्व ही इसके प्रतीक हैं। (देखिए, 'कामधेनु' का निबंध 'जंबूद्वीपे भरतखण्डे'।) अतः इस बात के बारे में भ्रम नहीं होना चाहिए। ऐसे भारत से जुड़ने का तात्पर्य ही होता है, मनुष्य, पृथ्वी और ईश्वर से जुड़ना। मनुष्य, पृथ्वी और ईश्वर को सगुण और संवेद्य रूप में जानने का प्रयत्न मैंने भारतीय मुहावरे और भारतीय संस्कारों की भाषा में अपने सम्पूर्ण साहित्य में किया है। हर एक व्यक्ति की सोचने की एक जन्म-लब्ध वर्णमाला होती है और उसी वर्णमाला के आश्रय से वह मनुष्य, पृथ्वी और ईश्वर को पहचान सकता है, अन्यथा नहीं।

❖❖

आलेख

वैष्णव भाव और कुबेरनाथ राय के निबंध

● डॉ. रमाकांत राय

भारतीय परंपरा में तीन प्राचीन मतों का प्राधान्य दिखता है- शैव, शाक्त और वैष्णव। शिव की उपासना और सर्वप्रमुख देव मानने वाले लोग शैव कहे जाते हैं। शिव के उपासकों का मानना है कि शिव समस्त सृष्टि के आदि देव हैं और वही इस चराचर जगत के नियामक हैं। भारतीय आख्यानों में ब्रह्मा, विष्णु और महेश नामक त्रिदेवों की संकल्पना की गयी है। इसमें महेश शिव का पर्याय है। दक्षिण भारत में भी शिव के उपासक मिलते हैं और वहाँ लिंगायत समुदाय इस उपासना पद्धति का एक समृद्ध इतिहास रखने वाला समुदाय है। शक्ति की उपासना करने वाले शाक्त कहे गए हैं। देवी पूजन करने वाले समुदाय भारत में प्राचीन काल से ही पाये जाते हैं। वस्तुत: मातृपूजक समाज में शक्ति की उपासना एक प्रधान कर्मकांड है। भारत का पूर्वी प्रदेश शाक्तों की प्रधानता वाला है। इसमें काली और दुर्गा के विभिन्न रूपों की पूजा की

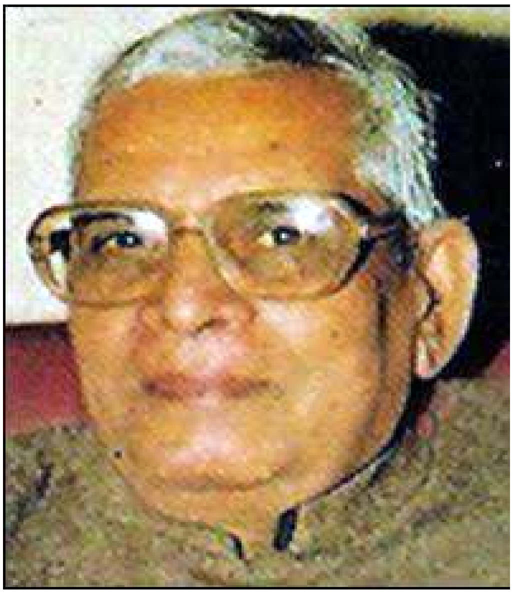

जाती है। वैष्णव समुदाय इन तीनों ही संप्रदायों में सबसे समृद्ध परंपरा युक्त है। त्रिदेव में विष्णु के दशावतार की चर्चा होती है और उसमें भी राम और कृष्ण की सबसे अधिक। न केवल हिंदी भाषी क्षेत्र अपितु अन्य भाषिक क्षेत्रों में भी वैष्णव मत को मनाने वाले संतों और अनुयायियों की बड़ी

संख्या है।

आधुनिक काल में जब हम वैष्णव मत की चर्चा करते हैं तो हमें गुजराती के प्रसिद्ध कवि नरसी मेहता की प्रसिद्ध उक्ति का ध्यान आता है- वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीर पराई जाने रे... महात्मा गांधी ने इस भजन में अभिव्यक्त गुण को वैष्णव जन की पहचान मात्र से जोड़ दिया। संस्कृत के कवि वाल्मीकि, जिन्होंने रामायण लिखी और वेदव्यास, जिन्होंने महाभारत की रचना की, ने अपने महाकाव्यत्व से राम और कृष्ण को जन-जन से जोड़ दिया। इस तरह वैष्णव परम्परा अत्यंत समृद्ध हुई। हिंदी के भक्ति काल में तुलसीदास और सूरदास प्रभृत कवियों ने क्रमशः रामचरितमानस और सूरसागर लिखकर राम और कृष्ण को लोक हृदय का हार बना दिया। भारतीय समाज में राम, कृष्ण और विष्णु के मत को मानने वाले वैष्णव समुदाय के लोगों का एक विशेष महत्त्व है।

कुबेरनाथ राय के साहित्य का अनुशीलन करते हुए हम देखते हैं कि उनके साहित्य में जिस भारतीयता की चर्चा हुई है, उसमें इन तीनों ही मतों के बारे में ललित निदर्शन मिलता है। अपने लेखन के प्रारम्भिक दिनों में, जब कुबेरनाथ राय नलबारी, असम में प्रवास कर रहे थे तो उनके लेखन पर वहाँ के शाक्त मत का प्रभाव बना। उनका जन्मस्थान गाज़ीपुर, वाराणसी के निकट होने के कारण और सांस्कृतिक अभिन्नता के कारण 'लहुरी काशी' कहा जाता है। काशी भगवान शिव का अन्यतम प्रवासस्थल माना जाता है। इसका असर भी उनके लेखन पर यत्र-तत्र परिलक्षित होता है। शैव और शाक्त प्रभाव में रहने के बाद भी कुबेरनाथ राय अपने को वैष्णव मत का कहते हैं। एक निबंध में वह स्वीकार करते हैं कि वह तमोगुणी वैष्णव हैं। "मैं तमोगुणी वैष्णव हूँ और मेरा पंचम पुरुषार्थ है सृष्टि की पंचकन्याओं का आस्वादन। मैं अपरा के सम्मोहन से पीड़ित हूँ, इसी से मुझे तमस चाहिए, अविद्या चाहिए, बल-वैभव चाहिए, अजरा आस्वादन-क्षमता चाहिए, यह सब कुछ चाहिए, मेरे लिए चाहिए, मेरी सम्पूर्ण हिंदुस्तानी जाति के लिए चाहिए।"

कुबेरनाथ राय के निबंधों में शैव, शाक्त और वैष्णव मतादि की अनेकशः चर्चा हुई है। ललित निबंध क्या है, इस प्रश्न पर विचार करते हुए उन्होंने शिव और उनके वाहन का स्मरण किया है- "जो निबंध विषय के आसपास शिव के साँड़ की तरह छुट्टा यानि मुक्त रूप से चरण और संचरण-विचरण करे वह है ललित निबंध।" वह निबंध के सौंदर्यशस्त्र को नंदी के नंदनत्व से जोड़ते हैं। शिव के प्रति उनका प्रेम यत्र-तत्र दृष्टिगत होता रहता है। अपने निबंध संग्रह 'महाकवि की तर्जनी' में उन्होंने रामचरितमानस की प्रबंध योजना पर विचार करते हुए रेखांकित किया है कि इस महाकवि ने प्रबंध की रचना करते समय सभी अध्यायों के मंगलाचरण में शिव की स्तुति की है। सुंदरकाण्ड, जहाँ शिव का मंगलाचरण नहीं है, वहाँ हनुमान की वंदना की गयी है और इसमें भी शिव के 'सुमन' के नाते शिव की उपस्थिति है।

कुबेरनाथ राय निबंध लेखन में जब ग्रामीण जीवन और लोक की चर्चा करते हैं तो वह

शक्ति की चर्चा करते हैं। देवी के विविध रूप, देवस्थान, लोक मान्यताएँ आदि मातृपूजन से संबन्धित चर्चा में भी वह बहुत रस लेते हैं। 'लालित्य चिंतन' करते हुए उनका बहुत स्पष्ट मानना है कि "लालित्य या सौंदर्य पराम प्रकृति की एक चिद्कला है। वह नित्या और विश्वव्यापी है। यह परमप्रकृति विश्वसौन्दर्य और विश्वोत्तर परमसौन्दर्य दोनों का आधान है। यह महाछवि है। यह महा सौंदर्य है। .... सृष्टि में जो कुछ सुंदर मालूम होता है, जो कुछ ललित है, वह महाछविरूपा भगवती की चिद्कला का परावर्तित प्रतिबिंब रूप मात्र है।" वह शक्ति की उपासना को निषाद परम्परा से जोड़ते हैं और मानते हैं कि आर्यों के आगमन से पूर्व ही निषाद-संस्कृति में दुर्गा-पूजन के प्रमाण मिलते हैं।

शैव और शाक्त मतों के साथ पर्याप्त सहिष्णुता और आग्रह रखते हुए भी कुबेरनाथ राय का मन वैष्णव भाव में अधिक रमता दिखता है। वह अनेकशः अपने इस वैष्णव भाव को प्रकट करते रहते हैं। समस्त सृष्टि को वह विष्णु की क्रीड़ा से जोड़ते हैं। "सारा सृष्टि–प्रपंच ही विष्णु की काम-क्रीड़ा है- ऐसी वैष्णव लोगों की मान्यता है। यह कामलोलुप देवता सृष्टि के अंग-अंग में 'विष' की तरह व्याप्त है, इसी से विष्णु कहा जाता है।" वह उल्लिखित करते हैं कि सृष्टि के जन्म की कल्पना विष्णु से सम्बद्ध है। "पुराणों के अनुसार अनंतशायी नारायण सृष्टि के सारे बीज उदरस्थ करके सो रहे थे। कालांतर में उन्हीं के शरीर को फोड़कर सृष्टि का कमल विकसित हुआ। दोनों मिथकों (वैदिक और पौराणिक) में अनन्तशायी पुरुष के शरीर के विघटन और ऊर्ध्वपातन से सृष्टि का प्रस्फुटन माना जाता है।''

कुबेरनाथ राय का वैष्णव मन शास्त्रीय आधार लेकर चलता है किंतु पुष्ट लोक और परंपरा से होता है। वह मानते हैं कि "मेरी वैष्णवता का झुकाव आनंदवादी शैव सिद्धान्त की ओर है। मेरा विश्वास आस्वादन और आनंद में है। जब मेरे मन में शाक्त भाव ज़ोर मारता है तो धरती को 'माँ' कहकर पुकारता हूँ: 'माँ, तू मुझे रूप दे, जय दे, यश दे, नीच शत्रुओं का संहार कर।' पर जब मैं वैष्णवभावापन्न होता हूँ तो रूप-जय-यश और शत्रु-भाव से परे ऊपर उठकर शुद्ध आस्वादन खोजता हूँ और यह धरती प्रिया रूप में नजर आती है।" वह लोक में घूमते, विचरण करते ऐसे प्रसंग खोज लाते हैं जहाँ उनके वैष्णव भाव को आश्रय मिलता है। 'भोग' की चर्चा करते हुए वह लिखते हैं- "विष्णु के चरित्र में सिंगार-पटार और कामलोलुपता का स्थायी महत्त्व है। प्रत्येक भोग और स्वाद में उसके अस्तित्व का तुलसीदल विद्यमान है- चाहे यह रति-क्रिया हो जो सृष्टि का एकमात्र संयुक्त रूप-रस-गंधादि का साथ-साथ पंचास्वादन भोग है, या शिशिर की सन्ध्या की महज मामूली एक कप गरम चाय। विष्णु के प्रसाद को ही 'भोग' कहते हैं जबकि शिव के प्रसाद की संज्ञा कुछ विशेष स्थितियों को छोड़कर 'निर्माल्य' है। इन दोनों शब्दों के अर्थगत संस्कारों का भेद इन दोनों देवताओं के स्वभाव-भेद का द्योतक है। एक 'भगवान' है, दूसरा है 'ईश्वर'।"

कुबेरनाथ राय सामान्य भारतीय के जीवन में वैष्णवता की व्याप्ति देखते हैं। सामान्य जन के

जीवन में वैष्णव व्यापार छाया हुआ है। खान-पान, रहन-सहन, बोली-बानी सब पर यह वैष्णवता का प्रभाव है। समूचा भारतीय जीवन वैष्णव मान्यताओं से संचालित होता है। एक गहन दार्शनिक विषय पर ललित तत्त्व के साथ कलमी और बीजू आम के आस्वादन की प्रक्रिया पर बात करते हुए वह लिखते हैं- "बीजू की 'गोपी' सचमुच गोपी है, वैष्णव प्रेमिका है, इसके अनुराग के हाव-भाव, हेला, विभ्रम की कोई गिनती नहीं। मुझे लगता है कि बीजू आम का आस्वादन वैष्णव प्रेम का आस्वादन है। मेरा एक मित्र कहता है कि ताम्बूल खाना सब नहीं जानते क्योंकि ताम्बूल खाना एक आशिकबाजी है। ठीक से धीरे धीरे रसपूर्वक मुँह में घुलाने से ही राग का उदय होता है। मेरी समझ से बीजू आम की गोपी चूसना भी कम आशिकबाजी नहीं। इसके आस्वादन की शैली भी प्रणय-आस्वादन की ही तरह है। हाथ में लो, पिघलाओ, अधर-पान करो, रस का धीरतापूर्वक धीरे-धीरे आस्वादन करो, क्योंकि गोपी धीरा नायिका है। मुझे तो आम चूसते समय 'उज्ज्वल नील मणि' के श्लोक और जयदेव की पदावली याद आ जाती है। इसके विपरीत, कलमी आम को शाक्त ढंग से काटते हैं और गूदे को चूसते नहीं, चबाते हैं।... इसी से लगता है, बीजू की गोपी चूसना आस्वादन लीला है, परंतु कलमी आम खाना कर्म-व्यापार है।"

कुबेरनाथ राय ने वैष्णव भावना से ओतप्रोत हो, रामकथा और वैष्णव विचार का आश्रय लेकर बहुतेरे निबंध लिखे हैं। उनका बहुत स्पष्ट मानना है कि विष्णु के दशावतारों में राम का अवतार ही पूर्णावतार है। राम को पूर्ण अवतार कहने के पीछे उनकी सुचिन्तित विचार-पद्धति है- "मैं कृष्ण को नहीं, राम को पूर्णावतार मानता हूँ। वैष्णव गुरुओं की पाँतें मुझे क्षमा करें। परवर्ती वैष्णव संप्रदायों में कृष्णोपासना ही ज़ोर पकड़ती गयी तो इसके ऐतिहासिक कारण थे। पुरुषार्थहीन विलासी युगों में ऐसा ही होना संभव था। गुप्तकाल के बाद से ही भारतीय चिंतन में कृत्रिमता और साहित्य में विलास और शिल्प में अलंकरण का प्राधान्य होने लगा। सरल-सबल-तेजस्वी प्राण-तत्त्व पर कृत्रिमता, विलासिता और अलंकरण की परतें चढ़ती गईं। गुप्तकाल के बाद और मुस्लिम आक्रमण के पूर्व का कालखंड एक ह्रासोन्मुख क्षयशीलता का कालखंड है, बोध और कर्म दोनों दृष्टियों से। कृष्णोपासना इसी कालखंड की उपज है।" वह राम को पूर्णावतार घोषित करने के पीछे जो कारण बताते हैं, वह यह कि- अवतार वही पूर्ण माना जा सकता है जो रस (सौंदर्यबोध), नीतिबोध और आत्मिक बोध तीनों दृष्टियों से पूर्ण हो। एस्थेटिक-एथिकल-स्पिरिचुअल (Aesthetic-ethical-spieritual) तीनों स्तरों पर पूर्णता व्यक्त करने वाला व्यक्तित्व ही पूर्णावतार है। इस दृष्टि से राम ही पूर्णावतार लगते हैं कृष्ण नहीं। कृष्ण की रसात्मक (एस्थेटिक) महिमा चाहे जो हो, उनकी सारी आत्मिक महिमा ऊपर से आरोपित है, स्वयं उनके द्वारा या व्यास और भीष्म पितामह आदि के द्वारा। उनके चरित्र और कृतित्व से (इस बात को हम भूल जाएँ कि वे भगवान थे तो) वह आत्मिक गरिमा अपने आप कहीं भी उद्घाटित और प्रदर्शित नहीं होती। आत्मिक गरिमा तब व्यक्त होती है जब व्यक्ति किसी

महत्तर आदर्श के लिए त्याग, ताप और यंत्रणा भोगता है और अपने त्याग, ताप और यंत्रणा के माध्यम से किसी आत्मिक सत्य को उद्घाटित करता है। ऐसा हम पाते हैं राम में, गौतम बुद्ध में और जीजस क्राइस्ट में।" कुबेरनाथ राय समाज की वर्तमानकालीन दुर्दशा और पतनोंमुख वृत्ति से क्षुब्ध हैं और इसका समाधान मानते हैं व्यक्तिगत शील के उन्नयन में। इस दुर्धर्ष काल में राम के व्यक्तित्व को वह शील का सबसे संतुलित स्वरूप मानते हैं- "राम को व्यक्तिगत शील के सर्वोच्च आदर्श के रूप में देखा जा सकता है। उनसे श्रेष्ठतर 'मॉडेल' मिलना असंभव है। यही कारण है कि मैं रामकथा से प्रभावित हूँ।" राम कथा का प्रभाव ही है कि कुबेरनाथ राय अपने निबंधों में रामकथा के महाकाव्यात्मक ग्रंथों और शील के शिखर पुरुष राम की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं और रामचरितमानस का हरसंभव बचाव तक करते हैं। वह वाल्मीकि, तुलसीदास और पउम चरिऊ की चर्चा पर भावुक भी हो जाते हैं। रामायण पर टिप्पणी करते हुए वह महाकवि की तर्जनी के सुंदरकांड विषयक निबंध में लिखते हैं- "रामायण की सर्वोच्च उपलब्धि है शील-सौंदर्य का दृढ़ एवं इसी का पुंखानुपंख निरूपण। इस दृष्टि से यह विश्व का अद्वितीय काव्य है। रामायण में सुन्दर खोजते समय इस बात को भी सदैव ध्यान में रखना होगा कि वाल्मीकि की दृष्टि में सौन्दर्य का अर्थ है 'शील समृद्ध सौन्दर्य'।'' वह तुलसीदास कृत रामचरितमानस को मानसिक निरुजता और आभ्यंतर ऋद्धि के लिए पढ़ने की वकालत करते हैं- "हमें मानस पढ़ने से मानसिक स्वास्थ्य और निरुजता प्राप्त होगी तथा हमारे शील को बल मिलेगा। और इस निरुजता को 'मानस' देगा 'सकल भवरुज नाशक' राम भक्ति द्वारा अर्थात आस्तिक भाव की साधना द्वारा।"

कुबेरनाथ राय के साहित्य में वैष्णव भावना और रामकथा से प्रभावित मानस की रचनात्मक अभिव्यक्ति रामकथा के भाष्य में हुई है। कालांतर में वह रामकथा के ही अनुशीलन में व्यस्त मिलते हैं। उनके मत में रामकथा सूर्य के अयन की कथा है। यह अयन ऋत के अधीन है। महाकवि की तर्जनी और त्रेता का वृहतसाम तथा रामायण महातीर्थम रामकथा पर केंद्रित निबंध संग्रह हैं। रामकथा पर उनका सबसे पहला निबंध गंधमादन शीर्षक निबंध संग्रह में 'राघवा: करुणो रस:' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। उनके मत में पूर्ण भारतीय बनने का अर्थ है, 'राम' जैसा बनना।

रामकथा के व्याख्यान के अंतर्गत कुबेरनाथ राय ने वृहत्तर भारत की संकल्पना के साथ उन-उन देशों की सांस्कृतिक यात्रा भी की है जहाँ किसी न किसी रूप में राम कथा विद्यमान है। इस दृष्टि से मनपवन की नौका संकलन उल्लेखनीय है। कुबेरनाथ राय अपने प्रसिद्ध निबंध संकलन पत्र मणिपुतुल के नाम में महात्मा गांधी को सच्चा हिन्दू कहते हैं। इस विशेष पहचान में महात्मा गांधी की राम में अकुण्ठ आस्था है। कुबेरनाथ राय ने अनेकश: शील के सौन्दर्य को जीवन का लक्ष्य माना है। बौद्ध धर्मग्रंथों में भी शील के इस महत्त्व को स्वीकार किया गया है। कुबेरनाथ राय बारम्बार इसे दोहराते रहते हैं- वह अपने एक भाषण में इस शील को धारण करने के लिए

आशीष की तरह दोहराते हैं-

"चंदनं तगरं वापि उपलं अथवस्सिकी।

एतेसं गंधजातनं सीलगंधों अनुत्तरों।।

(चन्दन, टगर, कमाल या जुही, चमेली- इस्न सारे पुष्पों की सुगंधों से 'शील' की, सद आचरण की, चरित्र की सुगंध, उत्कृष्ट, श्रेष्ठ होती है।)"

कुबेरनाथ राय भारतीय किसान को संस्कृति का शेषनाग मानते हैं और कहते हैं कि भारत का किसान स्वभाव से ही वैष्णव है। यह वैष्णव देश, देश के जन और देश के कण-कण में आस्था रखता है और उसके लिए तन-मन-धन से समर्पित रहता है। अपने प्रसिद्ध निबंध 'संस्कृति का शेषनाग' में उन्होंने पौहारी बाबा के एक कथा के माध्यम से भारतीय किसान की उत्सर्गमयी चेतना का परिचय कराया है।

कुबेरनाथ राय का सम्पूर्ण लेखन वैष्णव भावना से ओतप्रोत है और उन्हें अपने लेखन में राम कथा की व्याख्या पसंद है। वह स्वयं को वैष्णव मानते हैं- तमोगुणी वैष्णव। इस भावना में सबके कल्याण और भारतवर्ष के उत्कर्ष की कामना सन्निहित है। उनका भारतबोध इस अकुण्ठ वैष्णवता से आप्लावित है।

❖❖

संदर्भ

1. कुबेरनाथ राय, रस आखेटक, तमोगुणी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ- 140
2. कुबेरनाथ राय, वाणी का क्षीरसागर, लालित्य का मर्म, पृष्ठ- 102
3. वही, पृष्ठ-93
4. कुबेरनाथ राय, रस-आखेटक, जन्मांतर के धूम्र-सोपान, पृष्ठ-60
5. वही, पृष्ठ-32
6. वही, पृष्ठ-61
7. कुबेरनाथ राय, रस-आखेटक, मोह मुग्दर, पृष्ठ-114
8. कुबेरनाथ राय, महाकवि की तर्जनी, और अन्त में अपनी बात..., पृष्ठ-219
9. वही, पृष्ठ-220
10. वही , पृष्ठ-223
11. वही, पृष्ठ-147
12. वही, पृष्ठ-209
13. कुबेरनाथ राय, आगम की नाव, शीलगंधो अनुत्तरो, पृ.126

महाकवि की तर्जनी में मिथकीय चेतना

● डॉ. महात्मा पांडेय

ललित निबंधकार कुबेरनाथ राय जी ने 'महाकवि की तर्जनी के निबंधों को तीन भागों में विभाजित किया है यथा-वाल्मीकि संदर्भ, रामायण छाया-प्रतिष्ठाया और मानस संदर्भ। अपने इस निबन्ध में कुबेरनाथ राय जी ने मिथक के माध्यम से उसके भावात्मक और बौद्धिक आयामों का विस्तार दिखाने का प्रयास किया है। इससे आधुनिक एवं पौराणिक समाज के संबंधों की भूमिका भी सरलता के साथ व्यक्त हो जाती है। महाकवि की तर्जनी में उन्होंने अपने सौंदर्यबोध को शीलबोध के साथ समन्वित करने क लिए शील और सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति भगवान श्रीराम को ही प्रस्तुत किया है। कुबेरनाथ राय जी का यह विचार है कि श्रीराम जी के समकालीन वाल्मीकि के अलावा कुछ अन्य वाल्मीकि भी थे। समकालीन वाल्मीकि भार्गव गोत्रीय ब्राह्मण थे, उन्होंने रामकथा को रासक और काव्य नाटिका के रूप में लिखा होगा और रत्नाकर या डोम वाल्मीकि रामकथा के ही लोक कवि के रूप में जाने जाते थे। "वैसे ही अनेक वाल्मीकि हुए हैं भाषा और संस्कृत दोनों में और यह परंपरा चालू रही मौर्ययुग के प्रारंभ के आसपास तक, जब रामायण का वर्तमान रूप स्थिर हो गया। इस वर्तमान रूप में इतिहास,

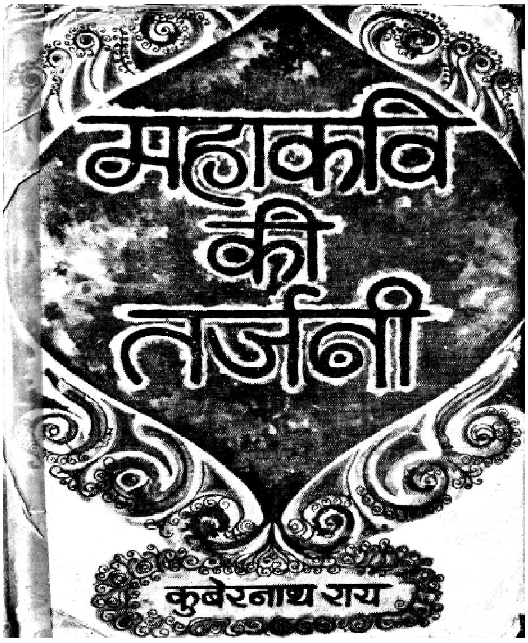

मिथक, लोककथा और व्यक्तिगत कल्पना की अनेक बहुरूपी परतें हैं, जो सब समन्वित होकर एक अभेद एकता पा गयी हैं। वैसे ही एक वाल्मीकि का कवि व्यक्तित्त्व भी ब्राहमण-मागध-सूत-डोम आदि बहुवर्णी अनेक वाल्मीकियों के व्यक्तित्त्वों का निचोड़ या मधु है। यह मधु इतिहास के हृदय-पद्म में शताब्दियों तक बनता-बनता हमारे सम्मुख परोसा गया मौर्य युग के आस-पास या कुछ पूर्व।"[1]

इस तरह से कुबेरनाथ राय जी जैसे निबंधकार यहाँ यह स्थापित करते हैं कि आज हमारे समक्ष जो रामकथा है, वह अनेक वाल्मीकियों द्वारा पुन: संस्कृत और परिवर्धित है। रामायण, अध्यात्मरामायण, हनुमन्ननाटक, प्रसन्नराघवं, पउमचरिउ तथा रामचरितमानस जैसे लोकप्रिय पौराणिक ग्रंथों से कुबेरनाथ राय जी काफी गहरे रूपों से प्रेरित और प्रभावित रहे हैं, और इस निबन्ध को लिखने की प्रेरणा भी उन्हें इन्हीं तमाम ग्रन्थों से ही हासिल हुई है। कुबेरनाथ राय जी की दृष्टि में वक्रोक्ति के द्वारा राजनीति पर व्यंग्य करने में यह रामकथा बड़ी ही धारदार किंतु मारक शक्ति से संपन्न और परिपूर्ण भी जान पड़ती है। अत: क्रांतिकारी और रचनात्मक दोनों ही स्थितियों में महाकवि की तर्जनी में कुबेरनाथ राय जी की सार्थक और कालजयी भूमिका रही है। कुबेरनाथ राय भगवान राम को पूर्णावतार मानते हैं। वे निबन्ध में लिखते भी हैं कि "अवतार वही पूर्ण माना जा सकता है जो रस, सौन्दर्यबोध, नीतिबोध और आत्मिक बोध तीनों दृष्टियों से पूर्ण हो।"[2]

कुबेरनाथ राय जी विचार से कृष्ण की सारी आत्मिक महिमा, व्यास, भीष्म पितामह आदि के द्वारा ऊपर से आरोपित है। व्यक्ति जब किसी महत्त्वपूर्ण आदर्श के लिए त्याग, तप और यंत्रणा भोगता है तब उसकी आत्मिक गरिमा बढ़ती है, और वह आत्मिक सत्य का उद्घाटन करने में काफी हद तक सफल भी होता है। यह राम,गौतम बुद्ध और जीसस क्राइस्ट में ही देखी जा सकती है। कृष्ण की सारी महिमा का आधार उनकी अलौकिक शक्ति है। राम के 'मर्यादा पुरुषोत्तम' 'समुद्र जैसा गंभीर' या 'हिमालय जैसा धैर्यवान' आदि विशेषणों से उनकी सगुण आकृति ही मूलरूप से स्पष्ट हो पाती है। राधा-कृष्ण उपासना शुद्धत: आध्यात्मिक उपासना है, और यह विशिष्ट के लिए है समूह के लिए नहीं। हम जिस पुरुष को पूर्णावतार कहते हैं, वह सहृदयजनों के लिए आदर्श रूप में बड़ा होना है।

'महाकवि की तर्जनी' वास्तव में वह तर्जनी है, जो आधुनिक साहित्यकारों की ओर उन्मुख दिखाई देती है, साथ ही वह विघटित पौराणिक मूल्यों को पुन: प्रतिष्ठित करने तथा नई साहित्यिक सृष्टियों की रचना करने के कुबेरनाथ राय जी उत्सुक भी रहते हैं। दो आत्मा ब्राह्मण और निषाद सभी किसी न किसी प्रतीक के रूप में हमारे सम्मुख इस निबन्ध के माध्यम से उपस्थित होते हैं। सभी जगह रामकथा ही संकेतों के रूप में अभिव्यक्त होती है। महाकवि की तर्जनी शीर्षक निबंध का आरंभ दो आत्माओं के वार्तालाप से होता है, जिसे शब्द और अर्थ की संज्ञा से भी अभिहीत किया जाता है। पौराणिक काल में शब्द और अर्थ की बड़ी ही दैविक महत्ता थी। वे दोनों एक नयी कविता और नए छंद के निर्माण के लिए ही आपस में संवाद

करते हैं। शब्द और अर्थ रामायण जैसा महाकाव्य लिखने हेतु उपयुक्त समझा जाता है,जो कालातीत हो गया है। यहाँ पर कुबेरनाथ राय जी जैसे निबंधकार ने अपने भावात्मक और बौद्धिक विचारों का बड़ा सुंदर समन्वय स्थापित किया है। इस निबन्ध के दूसरे भाग में एक ब्राह्मण प्रकट होता है जो किसी मन्त्र का जाप करता रहता है। अचानक ही वह मंत्र भूल जाता है और एक शाखा में बैठे क्रौंच-क्रौंची के मिथुन पर उसका ध्यान आकृष्ट हो जाता है। यह एक आधुनिक साहित्यकार का प्रतीक है जो रचना करने के पक्ष में बिल्कुल नहीं है। “अच्छा यही मान लो, पर क्या स्मरण नहीं आता पहचानते नहीं यह ब्राह्मण है कौन ? यह तुम्हारा ही तो भूपतित अंश है। प्रत्येक कवि ही अब शापग्रस्त ब्रम्ह होगा, और उसमें स्थित होऊँगी शब्द बनकर और तुम रहोगे अर्थ बनकर।”[3] यह संवाद शैली उन दोनों के बीच एक ललित निबंध की ही विशेषता जान पड़ती है। यहाँ निबंधकार कुबेरनाथ राय का अहं बदलकर समाज सापेक्ष हो जाता है। शब्द और अर्थ दोनों ब्राह्मण के कंठ में प्रवेश करके भविष्य की कविता का निर्माण करते हैं। यहाँ एक सच्चे साहित्यकार की आत्मीय भावना भी अभिव्यक्त

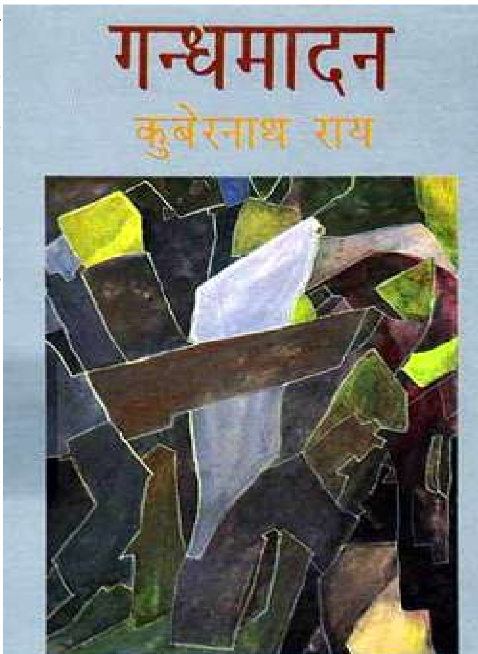

हुई है। क्रौंच-क्रौंची के मिथुन में से एक को निषाद द्वारा मार डालने के पश्चात जो श्लोक सहज ही फूट पड़ता है वह वाल्मीकि रामयण की रचना हेतु संकेत करता दिखाई देता है। वर्तमान सामाजिक हलचलों पर साहित्यकार का स्वर भी यहाँ स्पष्ट रूप से सुना जा सकता है। महाकवि की तर्जनी निबन्ध के तीसरे भाग में ब्राह्मण रूपी काव्य तथा निषाद रूपी इतिहास के बीच का बड़ा सुंदर संवाद दिखाया गया है। हमारी भारतीय संस्कृति का मूल रूप यहाँ स्पष्ट परिलक्षित हुआ है। आर्य और आर्येतर समन्वित भारतीय संस्कृति यहाँ मूलत: प्रकाशमान हुई है, इतिहास और काव्य दोनों ही इसके सहचर बने हुए हैं। “यदि तुम इतिहास हो तो मैं काव्य हूँ, हम-तुम दोनों ही यहाँ सतीर्थ हैं।पर जब तुम विवेक प्रकट करते हो, राज्यलिप्सा के नाम पर हजार-हजार मुंडपात करवाते हो, अर्थ लोभ के कारण धरित्री का सारा दान, सारा घृत और मधु चाबियों से ऐंठकर ताले में बंद कर देते हो, शुद्ध काम-लालसा को सभ्यता-संस्कृति कहकर चलाने लगते हो, तो मेरी तर्जनी बिना उठे मानती नहीं, मेरा कंठ एक क्रुद्ध श्लोक बोलने को विकल हो जाता है।”[4] यहाँ इतिहास और काव्य का सुदृढ़ संबंध भी साहित्यकार द्वारा ही संभव हो सकता है।

विवेकभ्रष्ट समाज पर घोर व्यंग्य करने में यह एक मारक समय है। यहाँ निबंधकार कुबेरनाथ जी की शैली कल्पना से लबरेज जान पड़ती है। कल्पना के ही वितान पर कुबेरनाथ राय जी ने सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों पर अपनी प्रतिभा से विचार किया है। यहाँ रामकथा का एक संदर्भ अनेक शब्द और भाव बनकर हमारे सामने आता है। क्रौंच-क्रौंची का मिथुन संदर्भ कुबेरनाथ राय जी काल्पनिक अनुभूति से सींचकर ललित निबन्ध के रूप में पाठकों के सामने आया है।

'महाकवि की तर्जनी' निबंध एक प्रतीकात्मक और कथात्मक निबंध है। इस निबंध में राजसत्ता, इतिहास तथा काव्य के पारस्परिक संबंधों को ही दर्शाया गया है। राजसत्ता जिसके लिए अनिवार्य है विधि-व्यवस्था और ब्रह्मा स्वयं विधि हैं। इस प्रकार ब्रह्मा यहाँ राजसत्ता के ही प्रतीक बन गये हैं। वे व्याध के भीतर लोभ, निर्ममता, और उत्तेजना के रूप में बैठकर निरीह सुंदर क्रौंच की हत्या तक करा देते हैं, जिससे ब्राह्मण के हृदय में करुणा का उद्गम होता है। इस करुणा मिश्रित रोष में वह उस निषाद को 'मा निषाद प्रतिष्ठां....' के रूप में शाप तक दे डालता है। उस ब्राह्मण द्वारा दिया गया वही शाप बाद में प्रथम मानवीय काव्य के श्लोक के रूप में विख्यात हो जाता है। इस प्रकार यह लोक प्रचलित मत पुष्ट होता है कि प्रथम काव्य की रचना करना तथा दु:ख की घनीभूत अनुभूति के ही कारण हुई थी। 'महाकवि की तर्जनी' शीर्षक निबन्ध में इतिहास के जो गुण बताये गये हैं, वे सब वास्तव में राजाओं-राजनेताओं के गुण स्वीकार किए गये हैं। इस निबन्ध में यदि व्याध इतिहास अथवा राजसत्ता का प्रतिनिधित्व करता है तो ब्राह्मण महाकवि काव्य के प्रतीक हैं। महाकवि में ज्ञान है, विराग है, परन्तु साथ ही सात्विक रागात्मकता भी है। क्रौंच का प्रणय कलह उनके मन को अपनी ओर खींचकर रागात्मकता से तरल बना देता है, किंतु दूसरी तरफ क्रौंच की निर्मम हत्या उनके हृदय को भी झकझोर देती है, करुणा से विगलित कर देती है। उनका व्यथित-द्रवित हृदय प्रतिकार से नहीं चूकता, वह व्याध के विरुद्ध बोल उठता है-'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं....'' वास्तव में महाकवि काव्य के प्रतीक हैं, और उनकी तर्जनी है काव्य का प्रतीकारात्मक स्वर जो 'मा निषाद' के रूप में फूटता है। इस तरह प्रथम काव्य के उद्गम का कारण न सिर्फ निरीह-निर्दोष क्रौंच के साथ हुए अत्याचार से ब्राह्मण के मन में उत्पन्न संवेदना और करुणा है, वरन साथ ही साथ यह प्रथम श्लोक उस अन्याय के विरुद्ध प्रतीकात्मक स्वर भी है। इस प्रकार प्रथम श्लोक के साथ ही काव्य ने निर्दोषों के प्रति होने वाले अत्याचार का विरोध भी प्रारम्भ कर दिया था। यह विरोध काव्य का चारित्रिक गुण भी है। इस प्रकार से कुबेरनाथ राय जी के निबंध 'महाकवि की तर्जनी' मुख्यत: काव्य और राजसत्ता के इसी पारस्परिक संबंधों पर प्रकाश डाला गया है।

❖❖

संदर्भ-

1. महाकवि की तर्जनी-कुबेरनाथ राय, पृष्ठ-218
2. वही, पृष्ठ-220
3. वही, पृष्ठ-07
4. वही पृष्ठ-07

भारतीय चिंतन परंपरा के परिप्रेक्ष्य में कुबेरनाथ राय का चिंतन

● डॉ. ऋषिकेश कुमार

भारतीय चिंतन परंपरा अनादि काल से चली आ रही है और आगे भी चलती रहेगी। प्राचीन काल से लेकर आज तक भारतीय चिंतन परंपरा में लोक कल्याण, भाईचारे और समन्वय की भावना देखने को मिलता है। अखिल विश्व को भारतीय चिंतन परंपरा शांति, समता, अहिंसा का मार्ग दिखलाती आई है। यह अकारण नहीं है कि भारत 'जगत गुरु' के नाम से जाना जाता था। यहाँ के लोगों की अपनी एक आध्यात्मिक सोच रही है जो अन्यत्र देखने को न के बराबर मिलाता है- "स्वाधीन वृत्त साफल्यं न पराधीन बृत्तीता। ये पराधीन कर्मणो जीवन्तोपि च ते मृता:"[1]

मानव सभ्यता के आरंभिक काल से लेकर आज तक भारतीय चिंतन परंपरा निरंतर साध्य रही है। यह परंपरा इतिहास के चक्रव्यूह तोड़ती रहती है। यह मनुष्य की स्वाधीनता के नए आयाम तानती चलती है।

भारतीय चिंतन परंपरा में बौद्धिक निर्भयता का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इस चिंतन परंपरा में निर्भयता न होती तो वेदों-पुराणों के बाद मानस नहीं लिखा जाता, न कबीर पैदा हुए होते न, गुरु नानक न ही विवेकानंद। इन जैसे विद्वानों ने समाज निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। व्यापक मानव समाज के लिए इन्होंने सामाजिक संरचना को तोड़ा, तोड़ने के लिए तोड़ना भारतीय चिंतन परंपरा का न पहले उद्देश्य था, न आज है और न आगे रहने वाला है। भारतीय चिंतन परंपरा के मूल में 'वसुधैव कुटुंबकम' है। इस चिंतन परंपरा का मूल उदघोष मंत्र है -

"सर्वे भवंतु सुखिन: सर्वे संतु निरामया,
सर्वे भद्राणि पश्यंतु मा कश्चिद्दुख भागभवेत"[2]

भारतीय चिंतन परंपरा का जो स्वर है, वह कभी भी एकाकी नहीं रहा, न ही वह किसी एक मज़हब, ईश्वर की चुनी हुई किसी एक जाति, किसी एक तंत्र (राजनीतिक या आर्थिक) से बँधी

रहती है, उसमें अपने को भी अतिक्रमण करने की क्षमता है।

भारतीय चिंतन परम्परा का प्रचार-प्रसार भारत से बाहर किसी राजनीतिक दबाव में या आर्थिक प्रलोभन के कारण नहीं हुआ, न ही मज़हबी उन्माद में हुआ है। बल्कि भारतीय चिंतन परंपरा को अन्यान्य देशों ने स्वत: ही अपनी इच्छा अनुसार ग्रहण किया है। अन्य देशों ने इस परंपरा को ग्रहण किया इसके पीछे सबसे बड़ा कारण भारतीय चिंतन परंपरा का मूल्यबोध रहा है। मूल्यबोध के चलते ही इस चिंतन परंपरा को अन्यान्य देशों में स्वीकार किया गया। भारतीय चिंतन परंपरा में अपनत्व की भावना है, स्वीकार का भाव है। यह किसी भयवश या किसी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक दबाव के कारण नहीं है। असल बात यह है कि भारतीय चिंतन में परायेपन की बात देखने को नहीं मिलती है। हमारी परंपरा में हमें कोई पराया नहीं लगता, सब अपने लगते हैं, हम न रंग पर जाते हैं, न रूप पर, न पूर्वजों पर, न शक्लों पर, हम जाते हैं मनुष्य के भीतर उस बेचैनी पर जो मनुष्य को न शरीर रहने देती है न भाषा। उसे मन और भाव बना देती है। आज के विश्व में इस स्वीकार भाव की जितनी माँग है, आवश्यकता है, उतनी कदाचित ही रही होगी।

भारतीय चिंतन परंपरा में अनुभव और यथार्थ दोनों का समन्वय हमें देखने को मिलता है। सामूहिकता में उत्सवधर्मिता, सबका साथ सबका विकास और सबका विश्वास आरंभ से ही देखने को मिलता है। भारतीय चिंतन परंपरा अतीत को व्यतीत नहीं मानती है, बल्कि इसका संबंध अतीत से लगातार बना रहता है। आगामी समाज निर्माण या समाज कल्याण में जहाँ उपयोगी सिद्ध लगता है, वहाँ अतीत के अनुभवों का समुचित उपयोग किया जाता है। उदहारण के लिए हम भारतीय साहित्य में आदि, मध्य या आधुनिक काल में देख सकते हैं सर्वत्र उपलब्ध हैं।

भारतीय चिंतन परंपरा समय और समाज के अनुकूल, अपने चिंतन-मनन के निष्कर्ष द्वारा अपनी चिंतन परम्परा को लोक कल्याणकारी बनाए रखने में सदैव सक्षम रही है। भारतीय चिंतन परंपरा मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त है। व्यक्ति, समाज, राज्य, राष्ट्र और संपूर्ण वसुधा पर विराजमान जीव को ध्यान में रखते हुए चिरकाल से चिंतन मनन करता चला आ रहा है। भारतीय चिंतन परंपरा में ही देखने को मिलता है कि एक साधु राजा को राजधर्म पालन करने का उपदेश दे रहा होता है।

"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी"[3]

भारतीय चिंतन परंपरा में केवल व्यक्ति मात्र की उन्नति के लिए कोई स्थान नहीं है, यहाँ संपूर्ण समाज को सुखी और प्रसन्न रखने के लिए चिंतन किया जाता रहा है।

"औरों को हँसता देखो मनु-हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो सब को सुखी बनाओ"[4]

भारतीय चिंतन परंपरा में अकर्मण्य लोगों के लिए कोई स्थान नहीं है, और कर्म के मार्ग में यदि कोई बाधा उत्पन्न करता है या आपके अधिकार से आपको वंचित करता है तो उसे

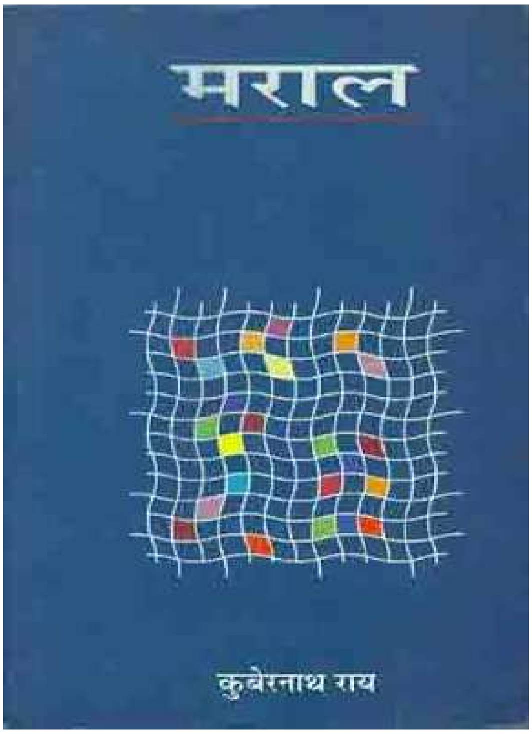

भी उचित दण्ड अवश्य देना चाहिए। चाहे कितना भी प्रिय क्यों न हो-

"अधिकार खो कर बैठ रहना, यह महा
दुष्कर्म है;
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दंड देना धर्म
है"[5]

हमें भारतीय चिंतन परंपरा में देखने को मिलता है कि अपने देश की अस्मिता को कोई व्यक्ति या राष्ट्र बदनाम करना चाहता है या नीचा दिखाना चाहता है तो उसे भी सबक सिखाना चाहिए, उसे उचित पाठ पढ़ाना अति आवश्यक है-

"निज शत्रु का साहस कभी बढ़ने न देना
चाहिए,
बदला समर में वैरियों से शीघ्र लेना
चाहिए"[6]

भारतीय चिंतन परंपरा में हमें यह देखने को मिलता है कि हम ईश्वर से कुछ माँगते हैं तो उसमें भी समाज कल्याण, समाजनिर्माण की भावना सम्मिलित रहती है। हम ईश्वर से वरदान माँगते भी है तो उसमें भी जन कल्याण और समाज को सत्य के मार्ग पर चलाने का ही संकल्प शामिल रहता है।

"देह शिवा बर मोहे ईहे, शुभ कर्मन ते कभुं
न टरूं
"न डरौं अरि सौं जब जाय लड़ौं, निश्चय कर
अपनी जीत करौं"[7]

भारतीय चिंतन परंपरा की सीमा हो न हो मेरे लिखने की सीमा है। सब कुछ यहाँ नहीं लिखा जा सकता है। लेकिन अंततः भारतीय चिंतन परंपरा का सुंदर सरल भाव जो जन मानस में भी देखने को मिलाता है उसे उद्धृत करने का मोह को मैं सँवरण नहीं कर पा रहा हूँ -

"वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीर पराई
जाणे रे।"[8]

बदलते समय और परिवेश के साथ गौरवशाली चिंतन परंपरा को आगे बढ़ाना एक चुनौती भरा कार्य रहा है और चुनौतियों से खेलना हम भारतीयों का काम रहा है। इस मंगल चिंतन परंपरा को आगे बढ़ाने का कार्य इस देश के चिंतक, समाज-सुधारक, साहित्यकार आरम्भ काल से करते चले आ रहे हैं। इस परंपरा में हिंदी साहित्य के आधुनिक काल के प्रसिद्ध ललित निबंध लेखक, चिंतक कुबेरनाथ राय का भी महत्वपूर्ण योगदान है। कुबेरनाथ राय ने बदलते समय और परिवेश के साथ भारतीय चिंतन में परंपरा जहाँ भी सुधार

की गुंजाइश दिखाई दी वहाँ इन्होंने सुधार हेतु सुझाव दिए और जहाँ व्याख्या की आवश्यकता थी वहाँ संदर्भ सहित व्याख्या भी प्रस्तुत किया।

भारतीय चिंतन परंपरा में योगदान के लिए कुबेरनाथ राय ने एक ऐसी विधा का चुनाव किया जो भारतीय चिंतन परंपरा में समयानुकूल योगदान दे। कुबेरनाथ राय ने उस विधा को अपनाया जिसके बारे में आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं कि "आधुनिक काल में गद्य का आविर्भाव सबसे प्रधान साहित्यिक घटना है।"[9] गद्य विधा के अंदर भी कई रूप देखने को मिलते हैं। कुबेरनाथ राय ने उसमें भी उस रूप को अपनाया जिसके बारे में शुक्ल जी ही लिखते हैं। "यदि गद्य कवियों और लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक संभव होता है।"[10] भाषा सम्प्रेषण के माध्यम के साथ एक संस्कृति भी। कुबेरनाथ राय ने भारतीय चिंतन परंपरा में योगदान के लिए गद्य में भी निबंध विधा को चुना, निबंध में भी ललित निबंध को चुना जिसमें चिंतनशीलता, भावात्मकता, वैयक्तिकता, संस्कृतिनिष्ठता, शास्त्रज्ञता, लोकनिष्ठता, रागात्मकता, बहुविज्ञता, स्वच्छंदता और काव्यात्मकता का स्वभाव समाहित है। इतना ही नहीं ललित निबंध अपने आंतरिक बोध में तमाम विधाओं के अंश को अपने व्यक्तित्व में समेटे हुए है। कुबेरनाथ राय ने अपने ललित निबंधों में पुरातन और नवीनता के समन्वय के साथ युगबोध के चिंतन, संस्कृति की परिवर्तनशीलता, लोकसंस्कृति की झाँकी, मानव मूल्यों के बनते-बिगड़ते संबंधों और तिथि पर्वो को अपने निबंधों में स्थान देकर भारतीय चिंतन परंपरा को सुदृढ़ किया है।

वर्तमान समय में राष्ट्रवाद, भारतीयता और भारतीय संस्कृति को लेकर हमारे समाज में हो-हंगामा होता ही रहता है। आज भी आर्य, द्रविड़, कोल और किरात को विभाजन की दृष्टि से ही देखा जाता है। जब हम इन समस्याओं को लेकर कुबेरनाथ राय के पास जाते हैं तो वहाँ से हमें यह जवाब मिलता है। "भारतीय संस्कृति एक है अविच्छिन्न, अविच्छेद और अविभक्त है। आज यह कहना कठिन और साथ ही व्यर्थ श्रम है कि कौन आर्य है, कौन द्रविड़, यदि ऐसे ही विभाजन करते जाना है तो फिर एक दिन सभ्यता संस्कृति की कौन कहे प्रत्येक भारतीय के शरीर का विभाजन करना होगा। आखिर इतने हजार वर्षों का संयुक्त जीवन भी कुछ अर्थ रखता है या नहीं?"[11] इस भाव की अभी संपूर्ण विश्व में कितनी आवश्यकता है, यह किसी से छिपा तो नहीं है। भारतीय चिंतन परंपरा को कुबेरनाथ राय के निबंध में ढूँढ़ना अपने आप में रोमांचकारी। और ढूँढ़ने का महत्व क्या होता है, इसके बारे में स्वयं कुबेरनाथ राय लिखते हैं कि "ढूँढ़ना स्वत: एक अमृत फल है। सारा प्यार ढूँढ़ कर पाने में ही है। बिना ढूँढने का श्रम किए प्रिय वस्तु की अनुपमता और अमूल्यता का बोध हो ही नहीं सकता।"[12] और ढूँढ़ना तो भारतीय चिंतन परंपरा का अभिन्न अंग रहा है। परंतु आज ढूँढ़ने के प्रति हम कितने सक्रिय हैं यह सर्व विदित। हम ढूँढ़ने के बजाए कौन असली है, कौन नकली, इस बात पर ज्यादा जोर देते हैं। चाहे

वह देश भक्ति का विषय हो, ईश्वर भक्ति या प्रेम का। कुबेरनाथ राय लिखते हैं कि "यदि प्रेमिका असली है, यदि ईश्वर असली है, कवि असली है, तो उन्हें कभी भी मुट्ठी में पकड़ कर तौल नहीं सकते, असली को कभी भी आप अपनी मुट्ठी में पकड़कर तौल नहीं पाएँगे। वे निरंतर अतुलनीय रह जाएँगे। वे सदैव साथ हैं, पर सदैव ओझल है, इसी से वे बासी नहीं पड़ते। वे मामूली बनकर अपना मूल्य नहीं खोते।"[13] परंतु हम लोग करते क्या हैं?

भारतीय चिंतन परंपरा में आरंभ काल से आज तक रति का अपना अलग महत्व है और आगे भी रहनी चाहिए नहीं तो अर्थ का अनर्थ हो सकता है। इस विषय पर कुबेरनाथ राय लिखते हैं कि "मेरी धारणा यह है कि सृष्टि तभी तक कोमल और सुंदर है जब तक हम रति समर्थ हैं। तन से न सही मन से ही। जिस दिन हम रति संवेदन भूल जाएँगे उस दिन से समस्त सृष्टि असुंदर क्रूर और कुरूप हो उठेगी, उसी दिन से ये रंग, ये फूल, ये छवियाँ, ये हवाओं के गान शव हो जाएँगे, शैतान की ईश्वर पर पूर्ण विजय हो जाएगी और सारी सृष्टि अंधकारमय नरक बन जाएगी।"[14] भारतीय चिंतन परंपरा में प्रेम अध्यात्म के साथ विनय और वीरता पर भी चिंतन देखने को मिलता है। कुबेरनाथ राय इस चिंतन परंपरा को आगे बढ़ाते हुए साफ शब्दों में लिखते हैं कि "विनय अभिमान हीनता और समर्पण भाव के साथ-साथ वीरता भी जरूरी है। बिना वीरता के विनय दीनता का प्रतीक है।"[15] भारतीय चिंतन परंपरा में आधुनिकता को विस्तार प्रदान करते हुए कुबेरनाथ राय लिखते हैं कि "आज आवश्यकता है कि साहित्यिक और वैज्ञानिक दोनों मिलकर इस क्षमता का विकास करें कि कल कारखाने बढ़ें, भौतिक समृद्धि हो शक्ति का संचयन हो, मारक और सर्जक दोनों तरह की क्षमताओं का विकास हो जिस से दुश्मन नज़र मिलाते से ही सहम जाए, जिस से सारा राष्ट्र मौजपूर्वक तमोगुण, रजोगुण का पान करें। जीवन के, उसके त्रिगुणात्मक रूपों में भोगें और वह सतोगुण की सर्व निरपेक्ष सात्विकता के मोहपाश से मुक्त हो, इस पर आधारित पाखंड से मुक्त हो, अपनी धृति और मेधा का विकास करे, यही हमारी अस्तित्व संलग्न आवश्यकताएँ हैं, हमारा बच जाना या नेस्नाबूत हो जाना इन्ही के वरण या तिरस्कार पर निर्भर करता है।"[16] आधुनिक होते समाज में क्या यह बेहतर चिंतन नहीं है? कुबेरनाथ राय यहीं पर नहीं रुकते वे सृजन और निर्माण विद्या के क्षेत्र में वंचना का शॉर्टकट रास्ता अपनाने के ख़िलाफ़ हैं। उनका कहना है कि संपूर्ण समय का समर्पण देकर ही सृजन किया जा सकता है। बिना कर्म के, उसके कष्ट को झेले बिना, सृजन नहीं किया जा सकता। अगर सृजन हो भी गया तो उसका महत्व नहीं रह पाएगा। हमें ऐसी सृजित वस्तु चाहिए जिससे मनुष्य के गुण को, उसकी सोचने समझने और अनुभव करने की क्षमता को विस्तार मिले। इसके लिए ज़रूरी है व्यक्ति मन या समाज के मर्म में पैंठ बनाना, उसके अंत: सत्य को जाने बिना उनके समस्याओं के समाधान की ओर कैसे बढा जा सकता है?

भारत को भारत बनाने में किसका महत्वपूर्ण

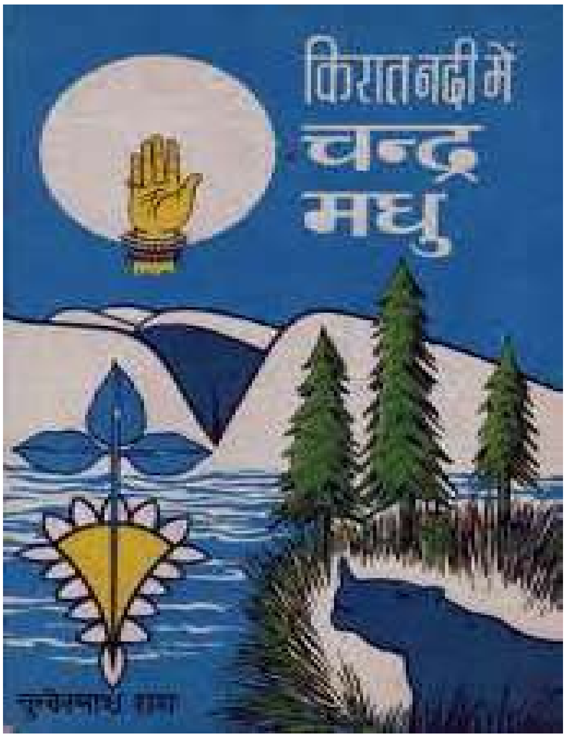

योगदान है इस को लेकर अक्सर वाद विवाद होता रहता है। इसके लिए हमें यह जानना ज़रूरी है कि भारत को भारत बनाने में एक जमात या वर्ग का योगदान नहीं है। कुबेरनाथ राय लिखते हैं जो हमें यह जानना ज़रूरी है उनका कथन है कि - "भारतीयता एक संयुक्त उत्तराधिकार है और इस उत्तराधिकार के रचयिता सिर्फ आर्य ही नहीं रहे हैं, वस्तुत: आर्यो के नेतृत्व में इस संयुक्त उत्तराधिकार की रचना द्रविड़, निषाद, किरात ने की है। ग्राम संस्कृति और कृषि सभ्यता का बीजारोपण और विकास निषाद द्वारा हुआ है। नगर सभ्यता कला शिल्प, ध्यान धारणा, भक्ति योग के पीछे द्रविड़ मन है। आरण्यक शिल्प और कला संस्कारों में किरातों का योगदान है। सबूत है नृतत्वशास्त्र भाषा विज्ञान तथा प्राक्इतिहास (प्री हिस्ट्री) के अवशेष। भारतीय 'ब्रह्मा' चतुरानन है जिसके चार मुख्य हैं: आर्य-द्रविड़ किरात-निषाद।"[17]

भारतीय चिंतन परंपरा हमें उस ओर से आगाह भी करती आयी है, जिससे वर्तमान और आने वाले समय की परेशानियों से बचा जाए। इस बात पर हम अमल कितने करते हैं यह हमारे ऊपर निर्भर करता है। कुबेरनाथ राय ने संवादात्मक शैली में लिखे अपने निबंध 'सिंह-द्वार का कवि-प्रेत' में उस समय वर्जिल से यह कहलवाते हैं कि "तुम्हारे देश में भी वही क्षण आया समझ कर यहाँ आ गया पर यहाँ न तो कोई कालतोरण तना हुआ मिला और न कहीं अपने को जलाने वाली मशाल मिली। यहाँ तो सारा देश नेताओं की प्रतिमाओं से भरता जा रहा है और आदमी के रहने की जगह घटती जा रही है। आसेतू हिमाचल कोई नहीं मिला जो साहस का गीत लिखता हो। मालिक धृतराष्ट्र और विचारक उसकी बीवी के गांधारी-दर्शन से आक्रांत है। दो चार बच्चे अवश्य ईटेंबाज़ी करते नज़र आए। 'हम क्रुद्ध हैं' का विज्ञापन भी बीड़ी और सिगरेट की दुकानों पर लगा देखा।"[18] सारांश यह है की भारतीय चिंतन परंपरा में कुबेरनाथ राय का योगदान स्मरणीय, अनुकरणीय और स्तुत्य है।

❖❖

संदर्भ

1. मिश्र , विद्यानिवास : भारतीय परम्परा, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, प्रथम संस्करण 1989, पृष्ट संख्या – 17

2. सिंह, सोमेन्द्र : (संपादक) वरेण्या (शोध-पत्र), उत्कर्ष प्रकाशन, मेरठ कैंट, (उ. प्र.) प्रथम संस्करण मार्च 2018, पृष्ठ संख्या- 24

3. पोद्दार, हनुमानप्रसाद (टीकाकार) दास, तुलसी, गोस्वामी : रामचरितमानस /अयोध्या कांड, गीताप्रेस, गोरखपुर - संवत्2073 एक सौ बारहवाँ पुनर्मुद्रण, पृष्ट संख्या - 363

4. प्रसाद, जयशंकर : कामायनी, प्रकाशन संस्थान, संस्करण : सन 2011, पृष्ठ संख्या - 52

5. गुप्त, मैथिलीशरण : जयद्रथ वध, साहित्य सदन झाँसी, संस्करण 2010, पृष्ठ संख्या - 3

6. वही , पृष्ठ संख्या - 7

7. सिंघ, पिरथी (संपादक) : सुचिंतन (गुरू गोबिंद सिंघ स्ट्डी सरकल की त्रैमासिक पित्रका) जनवरी - मार्च 2016 संख्या- 02

8. सिंह, शंभुनाथ : भारत की अवधारणा, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2020, पृष्ठ संख्या - 27

9. शुक्ल, रामचंद्र, आचार्य : हिंदी साहित्य का इतिहास, कमल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या - 6

10. वही , पृष्ठ संख्या - 338

11. राय, कुबेरनाथ : रस आखेटक, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण - 1970, पृष्ठ संख्या - 119

12. वही , पृष्ठ संख्या - 115

13. वही , पृष्ठ संख्या - 115

14. वही, पृष्ठ संख्या - 149

15. वही, पृष्ठ संख्या - 204

16. वही, पृष्ठ संख्या - 206

17. वही, पृष्ठ संख्या - 233

18. वही, पृष्ठ संख्या - 173

कुबेरनाथ राय का नृतत्वशास्त्र

● डॉ. निशीथ राय

कुबेरनाथ राय जी द्वारा सृजित कई शब्दों में से एक है नृतत्वशास्त्र। नृतत्वशास्त्र का प्रचलित शब्द मानवविज्ञान है। मानवविज्ञान को आंग्ल भाषा में एंथ्रोपोलोजी कहते हैं। एंथ्रोपोलोजी दो शब्दों से मिलकर बना है 'ऐन्थ्रोपोस' अर्थात मानव तथा 'लोगोस' अर्थात वैज्ञानिक अध्ययन। इस प्रकार एंथ्रोपोलोजी शाब्दिक अर्थ 'मानव का वैज्ञानिक अध्ययन' होता है। इसकी एक परिभाषा 'मानव का समग्रता से किया हुआ वैज्ञानिक अध्ययन' भी है। यह समग्रता मानव के उद्भव से लेकर वर्तमान तक के सामाजिक सांस्कृतिक और जैविक आयाम के वैज्ञानिक अध्ययन में प्रतिबिंबित होती है।

इसी प्रकार की समग्रता कुबेरनाथ राय जी के लेखन और अध्ययन में परिलक्षित होती है। अन्य समकालीन लेखकों के इतर वे अपने द्वारा लिखे साहित्य को सिद्ध करने हेतु नृतत्वशास्त्रियों द्वारा दिए गए तथ्यों का उपयोग करते हैं। उनके निबंधों

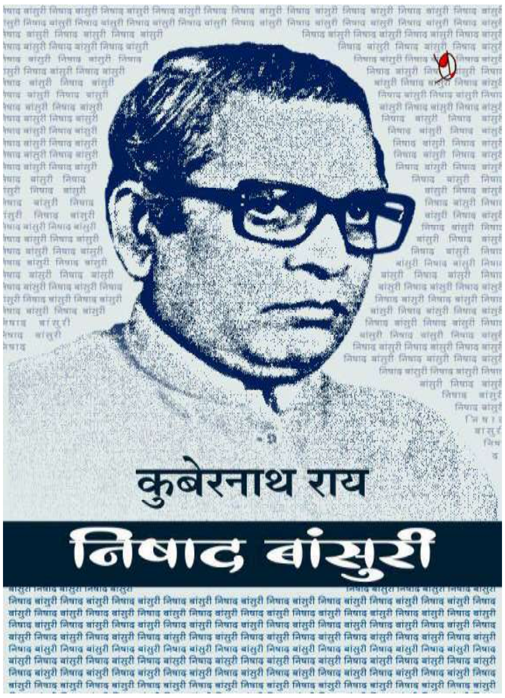

में साहित्य, संस्कृति और विज्ञान की जो त्रिवेणी बहती है, वह विरले ही किसी और निबंधकार में मिलती है। वह नृतत्वशास्त्रियों के तथ्यों को हमेशा स्वीकार नहीं करते थे अपितु कई निबंधों में तो उन्होंने नृतत्वशास्त्र के पितामह माने जाने वाले विद्वानों द्वारा प्रतिपादित अवधारणाओं की तथ्य आधारित कटु आलोचना भी की है। आलोचना के

उपरांत वे कई सामाजिक सांस्कृतिक प्रघटना, प्रक्रियाओं और अवधारणाओं को इतने सहज रूप से समझाते हैं कि गोया ऐसा प्रतीत होता है कि वे सभी घटनाएँ पाठक ने या तो अनुभव की है या उनके निबंधों के पढ़ने के उपरांत पाठक को भी यह प्रतीत होता है कि उसने भी उस प्रघटना को कई बार घटते देखा है परंतु कुबेर नाथ राय जी की तरह उसके बारे में कभी सोचा नहीं।

इस शोध आलेख में कुबेरनाथ राय जी के तीन निबंधों महिमाता (1973), निषाद बांसुरी (1973) और भारतीय किरात(1983) का विश्लेषण उपरोक्त लिखी बातों के आधार पर किया गया है। इन तीन निबंधों में जो नृतत्वशास्त्रीय अवधारणाएँ या नृतत्वशास्त्र संबंधित संस्थाओं और प्रक्रियाओं का विश्लेषण अग्रलिखित है।

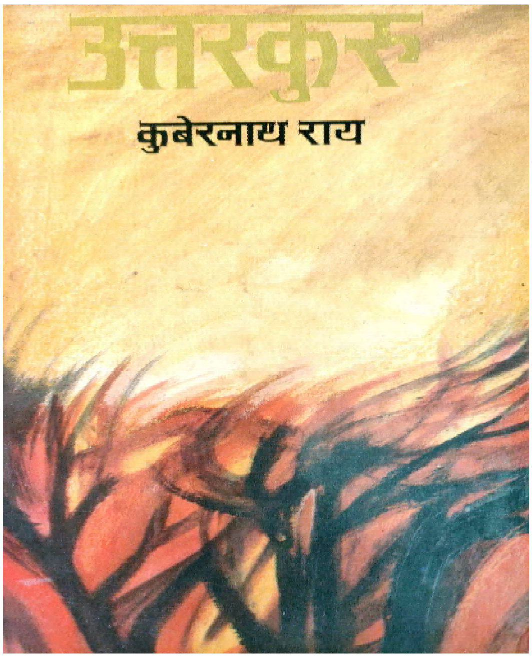

आर्यीकरण

कुबेरनाथ राय जी (महिमाता, 1973) के मतानुसार ''आर्यों के आगमन से पूर्व द्राविड़ थे यमुना-पार पश्चिम में और सिंधु की धारा के आस-पास। सिंधु प्रदेश की ब्राहुई तथा बलूचिस्तान की बलूची बोलियों से तमिल भाषा का मेल इस बात का सबूत है। परंतु गंगा-शोण की घाटी में द्राविड़ तत्त्वों की उपस्थिति अत्यल्प थी। यहाँ पर आर्य एवं निषाद संस्कृतियों में ही संधि-विग्रह और अंत में समन्वय घटित हुआ। ऐसी कल्पना की जाती है। परवर्ती संस्कृत ग्रंथों में 'शवर' शब्द कभी 'आस्ट्रिक' या निषाद के लिए आया है, तो कभी द्राविड़ के लिए, ठीक उसी तरह जैसे 'यवन' शब्द अभारतीय आर्य एवं सेमेटिक दोनों नस्लों के लिए प्रयुक्त होता आया है।''

वे आगे लिखते हैं कि ''आर्य था कवि, धनुर्धर और घुमक्कड़; द्राविड़ था शिल्पी और सामुद्रिक और निषाद था कृषक और नदी-चर। इस सूर्यचंद्र लांछित नदी-उपत्यका में तीनों मिले। द्राविड़ से आर्य ने सीखा वरुण मार्ग पर उमड़ती तरंग-घटा से मल्लयुद्ध करके रत्नमंथन करना, निषाद से आर्य ने सीखा गंगा तट की धरती के गर्भ से शस्य और 'मधु' का आहरण करना और निषाद ने भी आर्य से सीखा ऊषा और रात्रि, मरुत और मेघ के अंतराल में छिपे अदृश्य देवताओं से संयोग स्थापित करना और स्तवगान रचना। निषाद ने आर्य को भूमि-कर्षण सिखाया और और आर्य ने निषाद को मन-कर्षण की क्षमता दी। इस प्रकार निषाद के तमोगुणी मन को भी सूर्य-चंद्र-लांछित करने का अवसर मिला आर्य के संपर्क में आकर।

कुबेरनाथ राय जी का मानना है कि

भारतीय धरती के आदि-मालिक निषाद ही थे। भारतीय भाषाओं में मूल संज्ञाएँ, भारतीय कृषि के मूल और आदिम तरीके और भारतीय मन के आदिम संस्कार उन्हीं की देन हैं। इस अर्थ में निषाद-द्रविड़-आर्य-किरात इन चारों महाकुलों में निषाद ही अग्रज हैं। परंतु मध्यप्रदेश आदि कुछ क्षेत्रों को छोड़कर इनका इतना घोर आर्यीकरण हो चुका है कि आज यह पहचाना नहीं जा सकता। ऊपर-ऊपर से यह स्वयं निषादत्व खोकर आर्य हो चुका है, पर भीतर-भीतर तथाकथित भारतीय आर्य का अंग विश्लेषण करें तो पता चलता है कि इस महानायक के अर्थात इस पितर भारतवर्ष के इतिहास वपु की शिरा-धमनी में निषाद-मन प्रवाहित है, स्नायुमंडल की रचना द्रविड़-संस्कृति करती है, अस्थि धर्म की रचना में किरात-संस्कृति की रंग-बिरंगी बनावट है और इसके मनोमय कोषों की रचना आर्य-सरस्वती करती है।

निषाद बांसुरी (1973) में वे पुनः इसी बात को अलग शब्दों में कहते हैं कि ''हमारे गंगातीरी या उत्तर भारतीय निषाद, जिन्हें हम आम तौर से 'मल्लाह' कहते हैं, मूलतः 'आस्ट्रिक' या 'अग्निकोणीय' नस्ल के हैं, जो भारतीय धरती के आदि मालिक थे। उत्तर भारत में हर अर्थ में इनका इतना आर्यीकरण हो चुका है कि इनके अंदर निषादत्व का अस्तित्व बहुत कम रह गया है। भाषा बदलने से संस्कृति बदल जाती है। इनकी भाषा आर्यभाषा हो गयी। वे अपनी उस आदिम भाषा-भूषा-भोजन को त्याग चुके हैं जो अब भी मुंडा-कोल आदि मध्यप्रदेशीय 'आस्ट्रिकों' या 'निषादों' में वर्तमान है। इस आर्यीकरण का प्रतीकात्मक संकेत है राम द्वारा निषादराज के कुल को पावन करने की कथा में। आर्य-निषाद मिश्रण महाभारत में व्यापक तौर पर स्वीकृत था। और इस मिश्रित नस्ल के सबसे महिमामय फल हैं द्वैपायन कृष्ण व्यास। आज के मध्यप्रदेश अर्थात त्रोता के जन्मस्थान और दंडकारण्य में यह प्रक्रिया उतनी ही तीव्र नहीं चली फलतः वहाँ अब भी 'निषाद संस्कृति' अपनी निषाद भाषा-भूषा-भोजन के साथ अक्षुण्ण है। परंतु उत्तर भारत में आर्यीकरण हो जाने के बावजूद भारतीय भाषा, भारतीय चिंतापद्धति और भारतीय स्वभाव पर इनका बड़ा प्रभाव है। लगता है कि इतिहास का आदिम निषाद राजनैतिक स्तर पर पराजित होकर भी हमारे मन और बुद्धि में प्रवेश कर इतनी सीमा तक विजयी हो गया कि विजेता आर्यत्व के कायाकल्प और मानसकल्प दोनों एक साथ घटित हो गये।''

मातृसत्तात्मक समाज

निषादों के मातृसत्तात्मक समाज को समझने हेतु कुबेरनाथ राय जी निषाद बांसुरी (1973) में एक आदिम निषाद कवि महीदास की बात बताते हैं। जिसके अनुसार ऐतरेय महीदास निषाद कन्या इतरा का पुत्र था। कालांतर में लोगों ने कथा चला दी कि 'इतरा' अर्थात 'नान्ह' कन्या का पुत्र होने के कारण उसे ब्राह्मण पिता द्वारा तिरस्कार मिला और वह रोता हुआ माँ के पास गया और पूछा, 'माँ, मैं किसका पुत्र हूँ?' असहाय माँ ने साश्रुकंठ उत्तर दिया, हम सब लोग धरित्री की संतान हैं, वही सभी सृष्टि की माता है। पर आर्य माता ने पुत्र को परम प्रकृतिरूप धरित्री की नहीं, परम पुरुष

नारायण की ओर उन्मुख होने का उपदेश दिया था। संभवत: इसलिए कि आर्य पितृ-सत्ता प्रधान जाति है और उस समय निषाद-किरात मातृसत्ता प्रधान थे।

अपनी इस अभिधारणा को सिद्ध करने हेतु वे 'लोकायत' नामक ग्रंथ के लेखक नृतत्त्वशास्त्री श्री देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय का उदाहरण देते हैं जिनके मतानुसार दुर्गा-उपासना एवं दुर्गा-पूजोत्सव का विकास हुआ है अनार्य नारियों द्वारा पूजित कृषि-मातृका भूमि की पूजा से। आर्यों के आगमन से पूर्व निषाद-बंधुओं ने गंगातट की बस्तियों में फसल और उर्वरता की देवी के रूप में धरित्री की पूजा की थी घट सजाकर और घट के चारों ओर शस्य बोकर। आज भी दुर्गापूजा में असल पूजा घट की ही है। गीली मिट्टी में जौ बोकर उस पर पूर्ण कुंभ रखते हैं, पूर्ण कुंभ पर शस्य-पात्र और उनके ऊपर नारिकेल या रक्षादीप। घट को सिंदूर से टीक देते हैं। इसी घट में देवी की प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है। इस घट के चारों ओर अल्पना (चौक) या सर्वतोभद्र मंडल रचा रहता है। सर्वतोभद्र मंडल का घेरा कल्पलता के द्वारा सज्जित रहता है। लता या वल्लरी नारीत्व का प्रतीक है। तांत्रिकों ने अपनी गुह्य भाषा में 'लता' को 'वनिता' के अर्थ में प्रयुक्त किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दुर्गापूजा के कल्प (रिचुअल) में पुरानी भूमि पूजा के, जो शस्य तथा उर्वरता की देवी की पूजा थी, छूटे-छिटके चिह्न अब भी चले आ रहे हैं।

वे लिखते हैं कि आदिम द्राविड़ और आदिम निषाद महीमाता का उपासक था तो आदिम आर्य पिता आकाश का। निषाद मातृसत्ता प्रधान समाज का अंग था, अत: धरती, अरण्यानी, हिमानी आदि की प्रतीक मातृ देवताएँ उसकी कल्पना से प्रसूत है। आर्य पितृसत्ता प्रधान समाज में जी रहा था, अत: इंद्र, द्यौस् (ग्रीक 'जेउस') तथा आदित्य (बाद में विष्णु) उसके देवता थे।

मानव की मानसिक एकरूपता

मानव की मानसिक एकरूपता (Psychic Unity of Humankind) कुबेरनाथ राय जी निषाद बांसुरी (1973) में लिखते हैं कि "वास्तव में भारतवर्ष की धर्म-साधना तथा लोक-संस्कार एवं शिल्प-संस्कार बाहर से आये या 'इंपोर्टेड' नहीं हैं। एक ही भौतिक-ऐतिहासिक स्थितियों में विश्व के दो विभिन्न भागों में समान संस्कार और समान बिंब उत्पन्न हो जाते हैं और इस समानता या समानांतरता को आयात या उधार मानकर एक पूर्वाग्रह पीड़ित ढंग से अपव्याख्या करना एक फैशन-सा हो गया है।'' वे आगे बताते हैं कि एक नृतत्वशास्त्री ने वैष्णव मिथकों के उद्विकास पर चर्चा करते हुए लिखा है कि पुरी के जगन्नाथ की त्रिमूर्त्ति का संबंध सुदूर आयरलैंड के किसानों में दीवार पर तीन पवित्र रेखाएँ खीचने की प्रथा से है। इसी तरह एक और नृतत्वशास्त्री ने भारतीय मंदिरों के शिखरों के विकास का संबंध खोजा है चीन के ऊँट-रथों के शिखरों से। श्री राय इन सबको फिजूल और फालतू मानते हैं। वे बताते हैं कि मनुष्य स्वभाव तथा मानव मस्तिष्क में कुछ सर्वव्यापक या समान वृत्तियाँ हैं, जो समान भौतिक स्थिति में समान रूप से प्रतिक्रिया करेंगी। इसी से भूखंड की दो भिन्न जातियों में मिथकों, बिंबों और कल्पों की पारस्परिक समानांतरता ('समानता' या 'एकरूपता' शब्द

इस संदर्भ में उपयुक्त नहीं) मिलती है। भारतवर्ष एक स्वतंत्र भौतिक इकाई के रूप में ही नहीं स्वतंत्र सांस्कारिक इकाई के रूप में भी विकसित हुआ है। यही कारण है कि यहाँ के धर्म, संस्कार, रुचिबोध तक कला-साहित्य में इतना आत्म-सचेत निजीपन है कि इसके विशिष्ट रंग को अन्यत्र पाना असंभव है।

इस अभिधारणा को सिद्ध करने हेतु वे डॉ. निर्मल कुमार बोस-जैसे विख्यात नृतत्त्वशास्त्री और यामिनी राय-जैसे आधुनिक चित्राकार का उदाहरण देते हैं जिन्हों ने यह बात भावुकता के आधार पर नहीं, विश्लेषण और ज्ञान-मंथन के आधार पर व्यक्त की है। यह अवश्य है कि आर्यों के कुछ देवता अन्य यूरेशियाई आर्यकुलों के साथ मूल आर्यमन से उद्भूत हुए हैं। परंतु देशी प्रकृति के संसर्ग में आकर उनके स्वभाव का एकदम रूपांतर हो गया है, और वे अपने आर्य स्वभाव को लेकर चल नहीं पाये। इंद्र और अग्नि तक का व्यवहार में या तो त्याग हो गया, नहीं तो रूपांतर। देशी प्रकृति उनको आत्मसात कर गयी। अत: भारतीयता या भारत के 'स्व'-भाव और स्वभाव का यदि पता लगाना हो तो यूरेशिया की ओर न ताककर अपनी भूमि में ही ढूँढ़ना होगा, अन्यथा विलोम सत्य ही हाथ आएगा, सही सत्य नहीं। पाँच-छह हजार वर्ष पुराना आर्यपूर्व लोकधर्म अब भी कहीं गया नहीं है, अविच्छिन्न चल रहा है। अपनी असलियत के बीज निषादों की उत्तराधिकारी 'निम्नवैश्य' एवं 'शूद्र' जातियों के लोकधर्म तथा उनके 'देवकुरों' तथा 'कटाह-उत्सवों' में मिलेंगे, फ्रेज़र साहब की यहाँ का रोड़ा वहाँ का पत्थर इकट्ठा करके लिखी गयी 'गोल्डेन बाऊ' में नहीं जो वस्तुत: अज्ञान का चर्च और ज्ञान का मकबरा मात्र है। वे नृतत्वशास्त्र के पितामह माने जाने वाले फ्रेजर की (magnum opus) 'गोल्डेन बाऊ' की आलोचना करते हुए लिखते हैं कि इसमें भावना-आश्रित (धर्म, संस्कार, विश्वास आदि), पर व्याख्या भाव-परित्यागी तर्क-बुद्धि के द्वारा की गयी है और फलत: उसके सारे निष्कर्ष वैसे ही हैं जैसे कोई कहे: 'मनुष्य हाड़ मांस मज्जा मल मूत्रा।' क्या ऐसी व्याख्या हमें सत्य का स्पर्श भी करा सकती है, उसे हस्तामलक बनाना तो दूर रहा! हमारी पुरुष देवताओं की प्रारंभिक उपासना अवश्य अन्य आर्यकुलों की उपासना के समानांतर थी, परंतु नारी देवताओं की उपासना शुद्ध देशी विकास है जो निषादों के आदिम धर्म, अपदेवता-पूजा, व्याधिपूजा, नदीपूजा तथा धरित्री पूजा से विकसित हुई है। वे वामपंथी नृतत्त्वविद देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय के मत को भी आधार बनाते हुए लिखते हैं कि तुलनात्मक नृतत्त्वशास्त्र हमें भारतीय धर्म की 'स्व' प्रकृति के निकट नहीं पहुँचा सकता उसके लिए 'इकाई-मूलक' (फंक्शनल) और ऐतिहासिक दृष्टिभंगी को लेकर, अर्थात किसी स्थानीय परंपरा की इकाई को चुनकर उसी के मर्म में प्रवेश करने पर, हमें सत्य प्राप्त होगा। अध्ययन की यह तकनीक विस्तारगत-देशांतरगत अर्थात 'क्षैतिज' न होकर इकाईगत-मर्मगत और 'लंबवत' होगी।

सामाजिक प्रक्रिया

कुबेर नाथ राय जी अपने निबंध भारतीय किरात (1983) में सामाजिक प्रक्रिया का विश्लेषण

करते हुए लिखते हैं कि जब दो संस्कृतियों की टकराहट होती है, बलिष्ठतर संस्कृति की दृष्टिभंगी प्रतिद्वंद्वी के प्रति तीन तरह की हो सकती है : (1) सर्वग्रास, (2) आत्मीयकरण और (3) सामंजस्यपूर्ण सह-अस्तित्व। पहली शैली का प्रयोग ईसाइयों ने मैक्सिको में और मुसलमानों ने मध्य एशिया-शकस्तान-अफगानिस्तान-ईरान और भारत में किया। द्वितीय शैली का प्रयोग भारतीय आर्यों ने आर्येतर जातियों के साथ भारत-भूमि में किया। चीन और दक्षिणपूर्व एशिया की स्थानीय संस्कृतियाँ इतनी बलिष्ठ थीं कि वहाँ पर इस्लाम को भी बाध्य होकर इसी शैली का प्रयोग करना पड़ा। इस शैली में 'प्रतिद्वंद्वी' की सारी विशिष्टताएँ विजेता सम्मानपूर्वक ग्रहण कर उन्हें 'आत्मीय' बना लेता है और दोनों के समन्वय से एक नव्य और श्रेष्ठतर संस्कृति गढ़ उठती है। इसका क्लासिकल उदाहरण है वैदिकोत्तर भारतीय अर्थात हिंदू संस्कृति। तीसरी पद्धति भारत के कुछ अंचलों में आत्मीयकरण की शिथिलता के कारण अपने आप घटित हो गयी और आर्य-आर्येतर का शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व चलता रहा। उदाहरण के लिए असम के भीतर अहोमों का आत्मीकरण हो गया, परंतु मेघालयीय और नागा देशीय किरात के साथ सहअस्तित्व हो चला। वर्तमान परिस्थिति में सर्वग्रास और आत्मीयकरण की गुंजाइश नहीं रही। सभी अपनी-अपनी अस्मिता या 'आइडेंटिटी' को लेकर आज ज़रूरत से ज्यादा सावधान हैं। आज तीसरी पद्धति ही लागू की जा सकती है और वह है 'सामंजस्यपूर्ण सह-अस्तित्व।' 'सह-अस्तित्व' तो है और वह प्रकृति द्वारा आरोपित बाध्यता के कारण और आर्थिक आवश्यकताओं के कारण है। जिस तत्त्व का अभाव है वह है 'मन की समरसता' अर्थात 'सामंजस्य।'

वे लिखते हैं कि 'संस्कृति संस्कारों का अर्जन और संस्कारों की साधना का नाम है। अवश्य ही सावधानी यह बरतनी होगी कि सामंजस्य-साधना के इन दोनों चरणों की प्रक्रिया एक ही साथ और समानांतर रूप में चालू हो। अन्यथा इससे एक नकारवादी (निगेटिव) दृष्टिभंगी के जन्म लेने का भी खतरा है। यह सामंजस्य क्षेत्रीय 'अहं' की उपासना न होकर परंपरा को 'पूर्णतर' करने के लिए हो। यदि क्षेत्रीय 'अहं' के द्वारा भारतीयता पीड़ित होती है, तो दूसरे दिन क्षेत्रीय 'अहं' नीचे की इकाइयों में उतर कर परस्पर का उत्पीड़न भी चालू कर देगा। तब यह सामंजस्य न होकर प्रतिद्वंद्विता का खेल रह जाएगा। 'बृहद' से जुड़कर उसे 'बृहत्तर' बनाना तथा उस बृहत्तर के सहारे स्वयं को 'पूर्णतर' बनाना, सामंजस्य का यही सही दर्शन है।

इस प्रकार हमें कुबेर नाथ राय जी के निबंधों में नृतत्वशास्त्रीय अवधारणाओं, सामाजिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं कि अविरल धारा देखने को मिलती है। इस धारा का सहज आचमन साहित्यकारों द्वारा तो किया जाता है परंतु नृतत्वशास्त्री इससे अभी अनभिज्ञ हैं। यदि नृतत्वशास्त्री भी इस अविरल धारा का आचमन करें तो वे भी बृहद से जुड़कर बृहत्तर बनेंगे तथा उस बृहत्तर के सहारे पूर्णतर।

❖❖

ललित निबंधकार कुबेरनाथ राय

● डॉ. मनोज कुमार राय

बहुत कम ऐसे साहित्यकार होंगे जिन्होंने अपने लेखन के शुरू में ही यह घोषित कर दिया हो 'कि मेरा सम्पूर्ण साहित्य या तो क्रोध है, 'नहीं तो अंतर का हाहाकार' और जीवन भर अपने इस आदर्श पर दृढ़ता पूर्वक बिना किसी लोभ-लालच के डटे रहे। श्री कुबेरनाथ राय को इसका श्रेय प्राप्त है। श्री राय का यह क्रोध या आर्तनाद उनका निजी नहीं है अपितु सम्पूर्ण भारत का है। श्री राय की ख्याति एक ललित निबंधकार के रूप में है। जिस विधा को उन्होने अपने लेखन के लिए अपनाया है उसके प्रति उनके मन में न केवल आकर्षण है अपितु तर्क भी है -"निबंध ही किसी जाति के ब्रह्मतेज को व्यक्त करता है। ललित निबंध भी काव्यधर्मी होने के बावजूद इस दायित्व से छुट्टी नहीं पा सकता"। ललित निबंध क्या चीज है? हमारी सहूलियत के लिए उन्होने इसकी सरल-सुग्राह्य परिभाषा भी दे दिया है- "ललित निबंध एक ऐसी विधा है जो एक ही साथ शास्त्र और काव्य दोनों है। एक ही साथ, आगे पीछे के क्रम में नहीं।" निबंध की परिभाषा से 'शिव के साँड़' का कोई भी संबंध हो सकता है, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। पर श्री राय की तो बात ही अलग है- "विषय के आसपास शिव के साँड़ की भाँति मुक्त चरण और विचरण ललित निबंध है।" यह परिभाषा बस कामचलाऊ ही है। वह भी इसलिए कि पाठकों को एक देशज छवि की झलक भर मिल जाये। वरना इसकी असल "परिभाषा करना मानो कालिका की जिह्वा को परिभाषित करना है। कालिका की जिह्वा आस्वादन और वाक दोनों का प्रतीक है। देह-देह में कालिका बैठी है और वह रसना के माध्यम से रस का आस्वादन कराती है और वाक बनकर विद्या का रूप धारण करती है। वह महारस और महाविद्या का प्रतीक है। वह परमा प्रकृति है। शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गंध इन पाँचों मात्राओं का मूल स्रोत है। लालित्य तो उसकी एक

चिद्‌कला मात्र है। अत: उस भगवती को नमो नम: और उसकी विद्यारूपी रसना को नमोनम: जो लालित्य के आस्वादन का निमित्त कारण है। उसकी परिभाषा कौन करने जाय"। श्री राय 'सेचन-समर्थ-पुंगव-वृषभ ''चिंतक हैं जो किसी की परवाह नहीं करता है। जब उसका मन हुआ 'निर्जन रास्ते पर अकेले ...हाथ में एक मजबूत देशी सोटा लेकर' 'चिन्मय भारत' की तलाश में निकल लेता है, (ताकि) यदि किसी मामा (चिन्मय भारत के पार्टिशन या बंदर बाँट में रूचि रखने वाले महंतगण) की इच्छा हो सम्मुख आकर कंठ फाड़कर निमंत्रण देने की तो उनके उपयुक्त प्रत्युत्तर की भाषा इसके माध्यम से दी जा सके।"

श्री कुबेरनाथ राय से मेरा प्रथम परिचय एक स्थानीय अखबार के कोने में छपी उनकी मृत्यु की खबर से ही हुई थी। एक ही ज़िले के होने के बावजूद इससे पूर्व मैंने कभी उनका नाम तक नहीं सुना था। वैसे भी साहित्य से मेरा बादरायण संबंध रहा है। कुछ महीने बाद श्री राय के लेखन के मुरीद डॉ. बरमेश्वर नाथ राय ने उनकी एक रचना 'चिन्मय भारत' पढ़ने के लिए दी। 'चिन्मय भारत' का ऐसा असर पड़ा कि श्री राय के सम्पूर्ण साहित्य को पढ़ने की इच्छा जाग उठी, तबसे उनको पढ़ने का सिलसिला जारी है। लेकिन श्री राय का अध्ययन क्षेत्र इतना विषाद और व्यापक है कि दर्जनों बार पढ़ने के बावजूद कुछ पाना शेष ही रह जाता है। पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनों साहित्य का जिस गंभीरता से अध्ययन-पाचन श्री राय ने किया है वह अत्यंत दुर्लभ है। महज बत्तीस बसंत पार करते ही एक निबंध-संग्रह 'रस-आखेटक' में 'होमर-शेक्सपीयर-वर्जिल' पर लिखे गए मोनोग्राफ उनके विस्तार और 'अब एक किनारे मैं भी जम रहा हूँ' जैसे कथन उनके आत्मविश्वास को स्पष्ट कर देते हैं। तुलसी-भूमि पर जन्म लेने का औसत से ज्यादा सार्थक-अभिमान तो उनके अंदर था ही, मोहनजोदड़ों के साँड से निकट का परिचय भी था। फलस्वरूप जब मन किया साहित्य के किसी भी बँसवार में माथा टिका देते थे और जब तक उसे जड़ से उखाड़ न लें पीछे नहीं हटते थे।

साहित्य जगत में प्राय: श्री राय के योगदान को साहित्य की एक खास विधा ललित-निबंध से जोड़कर देखने की रही है। बहुत हुआ तो ललित-निबंध के लिए प्रसिद्ध स्वयंभू 'त्रयी' के एक महत्वपूर्ण लेखक रूप की चर्चा कर इतिश्री कर ली जाती है। मुझे लगता है कि श्री राय के द्वारा संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में उनके दिये गए अप्रतिम योगदान को और वृहत्तर रूप में देखने की जरूरत है। श्री राय की असल चिंता है देश की जातीय और सांस्कृतिक विरासत को अक्षुण्ण बनाए रखना। श्री राय के व्यक्तित्व का सटीक मूल्यांकन करते हुए किसी ने ठीक ही लिखा है- "वे प्रकृति से अक्खड़, स्पष्टवादी पर तत्वाभिनिवेशी दृष्टि के रहे हैं।...और अपनी स्थापना के कारणों को भी बड़े बेलौस लहजे में उद्‌घाटित करते रहे हैं।" कहना न होगा कि उनकी अक्खड़ता, स्पष्टवादिता का ही परिणाम था कि 1974 (विषाद योग का प्रकाशन वर्ष) तक अपने साहित्यिक अवदान के लगभग चरम पर पहुँचने के बाद भी हिन्दी

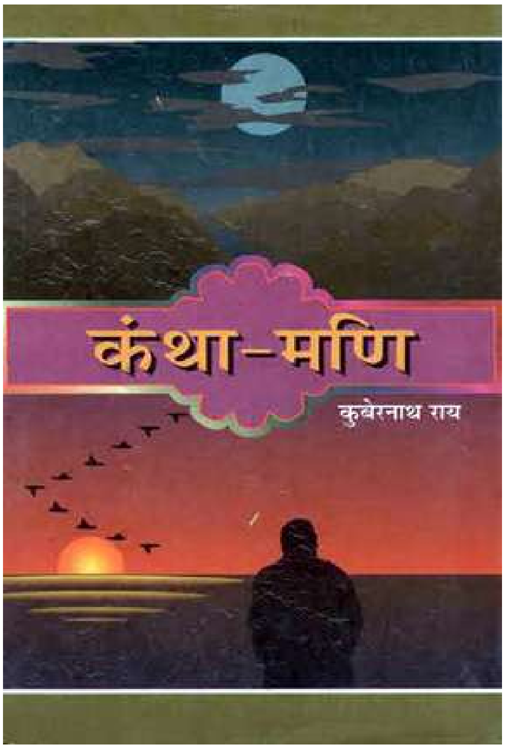

साहित्य के क्षेत्र के वे अज्ञात कुलशील बने रहे। एक दो अपवादों को छोड़ दिया जाय तो शायद ही किसी बड़े विद्वान ने उनके साहित्य के मूल्यांकन में रूचि दिखाई हो।

श्री राय लिखते हैं, "मेरा उद्देश्य रहा है हिन्दी-पाठक के हिंदुस्तानी मन को विश्वचित्त से जोड़ना और उनको मानसिक ऋद्धि प्रदान करना। मेरे निबंध 'भारतीय मन और विश्वमन' के बीच एक सामंजस्य उपस्थित करने की कोशिश करते हैं।" इस प्रतिबद्धता के पीछे उनकी यह निर्भ्रांत समझ है कि "मनुष्य की सार्थकता उसकी 'देह' में नहीं,उसके 'चित्त' में है। उसके चित्त गुण को उसकी सोचने-समझने और अनुभव करने की क्षमता को विस्तीर्ण कराते चलना ही 'मानविकी" के शास्त्रों का, विशेषत: साहित्य का मूलधर्म है।" इस धर्म के निर्वहन और विषय के अनुरूप कुछ कम प्रचलित शब्दों का प्रयोग उनके साहित्य में देखने को मिलता है। इस बिना पर श्री राय साहब की भाषा के संबंध में यह प्रचारित कर दिया गया है कि वे प्राय: क्लिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं। इसका निराकरण करते हुए उन्होने स्वयं लिखा है, "निबंधकार का एक मुख्य कर्तव्य होता है पाठक की मानसिक ऋद्धि और बौद्धिक क्षितिज का विस्तार करना। मेरे सम्पूर्ण साहित्य में इस कोटि के दो दर्जन से ज्यादा शब्द नहीं। इतना किसने नहीं किया है!.... मैंने जहाँ-जहाँ ऐसा किया है वहाँ उसी वाक्य में या आगे उसका अर्थ खोलता गया हूँ।" सच तो यह है कि आधुनिक पीढ़ी का अपनी विरासत और लोक से परिचय ही नाम मात्र का रह गया है। ऐसे दरिद्र शब्द-भंडार लेकर श्री राय के निबंध-कांतार की यात्रा दुर्गम तो होगी ही। श्री राय ने अपने एक निबंध 'भाषा बहता नीर' में भाषा को 'एक प्रवहमान नदी' 'बहते हुए जल' की संज्ञा दी जो बावन तोले पाव रत्ती सही है। दरअसल उनका यह कथन भाषा की बहुसमावेशक क्षमता की ओर संकेत करता है। भाषा का पाट जब चौड़ा होता है तब वह बहुत कुछ को अपने में समेटते-मिलाते हुए गतिमान होती है। इस प्रक्रिया में विवेक के साथ शब्दों का संग्रह-त्याग भी चलता रहता। दरअसल श्री राय 'मन के दरिद्रीकरण या वंध्याकरण को ही रोकने के लिए नहीं प्रयास-रत थे, भाषा के दरिद्रीकरण और वंध्याकरण को समाप्त करने के लिए भी उद्यत थे'। वे लिखते भी हैं,-"मैं गाँव-गाँव, नदी-नदी, वन-वन घूम रहा हूँ। मुझे दरकार है भाषा की।

मुझे धातु जैसी ठन-ठन गोपाल टकसाली भाषा नहीं चाहिए। मुझे चाहिए नदी जैसी निर्मल झिरमिर भाषा, मुझे चाहिए हवा जैसी अरूप भाषा। मुझे चाहिए उड़ते डैनों जैसी साहसी भाषा, मुझे चाहिए काक-चक्षु जैसी सजग भाषा, मुझे चाहिए गोली खाकर चट्टान पर गिरे गुर्राते हुए शेर जैसी भाषा, मुझे चाहिए भागते हुए चकित भीत मृग जैसी ताल-प्रमाण झंप लेती हुई भाषा, मुझे चाहिए वृषभ के हुँकार जैसी गर्वोन्नत भाषा, मुझे चाहिए भैंसे की हँकड़ती डकार जैसी भाषा, मुझे चाहिए शरदकालीन ज्योत्स्ना में जंबुकों के मंत्र पाठ जैसी बिफरती हुई भाषा, मुझे चाहिए सूर के भ्रमरगीत, गोसाईं जी के अयोध्याकांड, और कबीर की 'साखी' जैसी भाषा, मुझे चाहिए गंगा-जमुना-सरस्वती जैसी त्रिगुणात्मक भाषा, मुझे चाहिए कंठलग्न यज्ञोपवीत की प्रतीक हविर्भुजा सावित्री जैसी भाषा...।" कहना न होगा कि उन्होने इसकी खोज लेखन के आरम्भ से ही शुरू कर दी थी।

ललित निबंधों के माध्यम से पाठकों के इतिहास-बोध को परिष्कृत करना भी श्री राय का एक खास उद्देश्य रहा है। वे अपने ढंग से इतिहास-बोध की आवश्यकता का ही प्रतिपादन नहीं करते अपितु उसके समझने की प्रक्रिया को भी स्पष्ट रूप में सामने रखते हैं। उनकी दृष्टि में हम आज भी बौद्धिक उपनिवेशवाद से मुक्त नहीं हुए हैं और अपनी राष्ट्रीय अस्मिता को हम अपनी आँख से कम और विदेशी आँखों से अधिक देखने के लिए अभिशप्त हैं। मेरे एक परिचित ने उनके इतिहास-विषयक निबंधों पर एक अनजान प्रश्न खड़ा करते हुए लिखते हैं- "अन्य विधाओं की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई है। इसका कारण यह है कि वे साहित्य के स्थान पर इतिहास की ओर उन्मुख हो गए हैं। भाषा-विज्ञान और नृतत्वशास्त्र का सहारा लेकर उसमें कुछ इस तरह रमें हैं कि किसी दूसरी ओर देखने का उन्हें अवसर ही नहीं मिला है। इस कतर-व्योंत से उनका ललित लेखन भी प्रभावित हुआ है।....अगर राय साहब हजारी प्रसाद द्विवेदी और विद्यानिवास मिश्र की तरह अन्य विधाओं की ओर उन्मुख हुए होते, जिनकी उनमें क्षमता थी, तो उनकी परिधि के रचनात्मक आयामों का बहुविध विस्तार हुआ होता और साहित्य की प्रकृति को और निकटता से वे समझ सके होते'' "मुझे लगता है कि प्रश्नकर्ता हिन्दी साहित्य जगत की नैसर्गिक राजनीति के आतंक के साये से उबर नहीं पाया है। दरअसल श्री राय किसी की 'रिप्लिका' बनने के पंड-श्रम से मुक्त चिंतक थे। उनकी चिंता 'भारत' की चिंता है। विधा सिर्फ एक माध्यम भर है, उस चिंता को व्यक्त करने की। यह मानी हुई बात है कि जिस भी जाति के प्रज्ञा-पुरुषों का इतिहास-बोध प्रखर नहीं होता, जिनका अपने गतिशील सांस्कृतिक-दाय का बोध नहीं होता वे अंधश्रद्धा और परंपरा से ग्रस्त होकर जल्दी ही अवनति के गर्त में समा जाते हैं। इस बात से कौन अपरिचित है कि भारतीय संस्कृति के दाय को विकृत करने का प्रयास शताब्दियों से चलता आ रहा है। हमारे पूर्वज उन विपरीत परिस्थतियों में भी रहकर अपनी अस्मिता को बचाने में सफल रहे। पर आज की लड़ाई थोड़ी भिन्न है। अपने ही अन्दर के जयचन्दों ने स्वार्थ का ऐसा वितंडावाद खड़ा कर दिया है कि

उससे लड़ पाना मुश्किल हो रहा है। श्री राय ऐसे ही लोगों से लड़ते हुए 'चिन्मय-भारत' की तलाश में लगे थे। श्री राय की तो यह इच्छा है कि भविष्य में कोई 'माई का लाल' आगे बढ़कर भौतिक शास्त्र-जीव विज्ञान आदि अनुशासनों में भी ललित-निबंध लिखे। इस विस्तार तक जाने और उसकी वकालत करने की क्षमता उसी लेखक में हो सकती है जिसकी दृष्टि 'मूल दृष्टि' से 'अभिसार' करती हो। उन्होंने चेतावनी के स्वर में हमें आगाह किया, ''अगली शताब्दी नए ढंग और नयी शब्दावली माँगती है।...भारतीय बुद्धिजीवी और भारतीय साहित्यकार के लिए वह आधार भूमि भारतीय प्रज्ञा की देशी जमीन ही हो सकती है, अन्य और कोई नहीं।.... इसी से मैं यहाँ और अपने लेखन में अन्यत्र भी मूल की ओर लौटने की बात करता हूँ, मूल संश्लिष्ट होने की बात करता हूँ।''

श्री राय गांधीवादी चिंतन से विशेष रूप से प्रभावित हैं, और आज की अधिकांश समस्याओं के निदान के रूप में वे उसकी वकालत करते थे। घर-गृहस्थी से लेकर सुरसामुखी बेरोज़गारी जैसे गंभीर विषयों पर पत्र-शैली में उन्होंने 'पत्र मणिपुतुल के नाम' से एक पुस्तिका लिखी है। अद्भुत पुस्तक है यह। इस पुस्तक में रस-शिल्प-सही हिंदू-सत्य और विद्या माई से लेकर 'पाँत के आखिरी आदमी' की चिंता बहुत ही सरल शब्दों में की गई है। एक चिट्ठी में वे लिखते है-'अपनी चिंता करने के साथ ही महुआ के सूर्य, चंद्र की चिंता करो जिसे शताब्दियों पूर्व व्यवस्था के राहु ने चबा डाला था और जिसकी मनबुद्धि क्या शिरा-धमनी में भी अंधकार का महातमस प्रवाहित है'। यहाँ महुआ जनता की प्रतीक है जो आज भी व्यवस्था के लॉकडाउन-चक्रव्यूह में फँसी पड़ी है। गांधी के हवाले से वह लगातार यह चिंता जाहिर करते रहें हैं कि हिंदुस्तान की समस्या का असली समाधान वृहदाकार यंत्र नहीं अपितु कुटीर उद्योग कर सकते हैं। यंत्र मनुष्य को सर्जक न रखकर एक पुर्जा बना डालते हैं जिसका कुप्रभाव बहुआयामी होता है जिसकी तरफ एक सदी पूर्व डॉ आनंद कुमारस्वामी ने भी इशारा किया था। श्री राय के लिए गांधी 'भारतीयता' के प्रतीक हैं। वह उनमें 'राम जैसा होने' और 'बहुत कुछ सफल होने को' देखता है। वे यह मानकर चलते हैं कि "एक दिन ऐसा कि सभी को 'सर्वोदय' और गांधी की ज़रूरत अनिवार्य लगेगी।" पिछली सदी के छठे दशक में जब श्री राय लेखन-क्षेत्र के किनारे खद्दर-वेश में प्रवेश कर रहे थे तो उनके सामने था हिंदी साहित्य जगत का वह विशाल क्षितिज जहाँ पश्चिमी साहित्य, मार्क्सवादी साहित्य, संगठन शास्त्रवादियों की गिद्ध-मंडली शिकार की तलाश में मंडराती रहती थीं। यह एक तथ्य है कि शस्य-श्यामला धरती पर श्री राय को 'अभिमन्यु की तरह इन सभी महारथियों से जूझना पड़ा है। क्षत-विक्षत होकर भी वे पराभूत नहीं हुए हैं।' इसके अनेक कारण हैं जिसके विस्तार में यहाँ जाना संभव नहीं है। एक संकेत ही काफी है-"सच पूछो तो मेरे अंदर एक अविराम अविच्छिन्न समुद्र-मंथन चल रहा है। जबसे मैंने होश सँभाला तभी से। मन ही मन्दराचल है, उसमें सर्पशिशुवत लिपटी मेरी कामना ही वासुकि है, और इंद्रिय-इंद्रिय, स्नायु-

स्नायु में बैठे देवता और असुर अविराम मंथन में लीन हैं। इस मंथन द्वारा श्री, मणि, रंभा, शंख, ऐरावत और उच्चै:श्रवा तो कभी नहीं मिले, एकाध बूँद अमृत और जहर ज़रूर कभी-कभी मिला था, वारुणी सदैव मिलती रही है। इसकी कमी नहीं हुई। फलत: मेरे जीवन में देवता तो प्राय: तृषित ही रह गए, परंतु मन के रसातल में भैंसे की तरह मँड़िया मारते हुए असुरों ने छककर उस वारुणी का पान किया है और लगातार करते जा रहे हैं। अर्थात इन असुरों की पुष्टि-तुष्टि के लिए ही मेरा जन्म हुआ।" श्री राय की बनावट ही अद्भुत है। उनको किसी की परवाह नहीं है। हार-जीत से वे ऊपर हैं-"आखिर इतना प्रकाश ले कर क्या होगा अखंड प्रकाश और अखण्ड जागरण कितनी बड़ी यंत्रणा है। मैं तप्त और तृषित हूँ। मुझे अंधकार की तृषा है, घनघोर निद्रा की तृषा है। माना कि प्रकाश सुरक्षा है ज्ञान है, अमृत है- सब सही। पर इतना आलोक, इतनी सुरक्षा, इतना ज्ञान और इतना अमृत लेकर क्या होगा?" उनके चिंतन का धरातल बड़ा उदात्त है। वे लिखते हैं-"जीवन ही एक सलीब है जिस पर असहाय रूप में हम ठोंक दिए गए हैं, अपने ही पापों की नहीं, औरों के पापों की कीलों से भी। राजा-रंक सभी के कंधे पर क्रॉस है, पर बिरला ही ऐसा होता है जो औरों को पाप-मुक्त करने के लिए, इस व्यथा को भोगता है। तब वह पुरुष नीलकण्ठ बन जाता है और यातना का रूपान्तर हो जाता है एक ज्योतिर्मय महिमा में। यह प्रतीक हमें शिक्षा देता है कि क्रॉस तो ढोना ही है, जब जन्म लिया है तो इस नियति से नहीं बच सकते, पर इसे ऐसे ढोओ कि यातना महिमा बन जाय।'' "नीलकंठ बनने के आग्रही श्री राय का रास्ता ही अलग है। उनकी पसंद ही कुछ और है-''शोभा और श्रृंगार के प्रतीक इन पुष्पों के रहते हुए भी मैं नीम के पुष्प-गुच्छ का तिरस्कार नहीं कर पाता हूँ।... नीम का मामूली फूल साहित्य की उस नयी विधा का प्रतीक है, जो समूची निराशा और पराजय का अतिक्रमण करके जीवन में जीने योग्य क्षणों के दानों को एक-एक करके चुन रही है।''इसलिए वे अविराम यात्रा पर अकेले चल पड़े हैं- ''जन्म से मरण तक इस पंचभोग्या याज्ञसेनी सृष्टि का परिधान पर परिधान हरण करते जाओ, 'स्व' का दु:शासन थक जायगा परन्तु इसके भीतर का सार कहाँ है, पता नहीं।''

श्री कुबेरनाथ का चिन्तन इतना बहुआयामी है कि उसे समग्रता में प्रस्तुत करना आसान नहीं है। उनके निबंध पाठक से उसके अध्ययन-चिंतन की मांग करते हैं। कहानी-उपन्यास की तरह सिरहाने रखने से श्री राय पकड़ में नहीं आते हैं। श्री राय ने कला-साहित्य-दर्शन-गणित-भूगोल आदि का तलस्पर्शी अवगाहन किया है। यह लगभग असामान्य घटना है। उनके समकालीनों में शायद ही किसी का बूता हो जिसने इस गहराई से विविध विषयों का अध्ययन किया हो और उसे ललित शैली में प्रस्तुत किया हो। ऐसा इसलिए संभव हो पाया कि उनकी कोई निजी लोभ या तृषा नहीं थी-''मैंने चतुर्दिक हँसती राका-निशि में किसी का हाथ पकड़कर कोई प्रतिज्ञा की थी, पर क्षमाहीन अर्थव्यवस्था और शासनतन्त्र के बीच कुछ कर नहीं पाया और दमित कामना का पाप ढोता हुआ

इच्छाओं के फूल जैसे शिशुओं की निरंतर हत्या करता हुआ जी रहा हूँ।'' लेकिन उनके निबंधों में पाठक बहुत महत्वपूर्ण है। पाठकों के लिए 'मणि' (भारतीयता के विशिष्ट आयाम) की खोज में घाट-घाट का पानी पीते रहे और इतिहास से 'मधु' निचोड़कर प्रस्तुत करते रहे। और अंत में एक दिन चुपचाप चले भी गए-''मुझे जाना ही होगा क्योंकि कहीं कोई प्रेषितपतिका रूप में हृदय पर नमस्कार मुद्रा में जुड़े बीस नखों के अक्षत और अपने नारियल युग्म लिए मेरी प्रतीक्षा करती होगी। जाना ही होगा क्योंकि यह काम रूपिणी सृष्टि कहीं भविष्य की मातृका बनकर तो कहीं भविष्य की प्रेमिका बनकर प्रतीक्षारत है।...मृगशिरा की दुपहरिया में कोयल कूक जायेगी, पर मैं नहीं रहूँगा।"

❖❖

कुबेरनाथ राय के रामकथा विषयक लेखन का वैशिष्ट्य

● डॉ. राम रघुवंश मणि

कुबेरनाथ जी का मत है ...'राम' शब्द के मर्म को पहचानने का अर्थ है- भारतीयता क सारे स्तरों के आदर्श रूप को पहचानना। पूर्ण भारतीय बनने का अर्थ है- 'राम' जैसा बनना।' राय साहब के लेखन की एक प्रमुख दिशा इसी 'राम' की महागाथा से संयुक्त है। उन्होंने रामकथा में निहित उच्चतम मानवीय मूल्यों के साथ उसकी रसात्मकता और भारतीय सर्जनात्मक चेतना में उसके उद्भव तथा विकास की सांस्कृतिक परम्परा दिखायी है। 'महाकवि की तर्जनी' और 'त्रेता का वृहत्साम' कृतियाँ स्वतंत्र रामकथा को ही केंद्र बनाकर लिखी गयी है। 'रामायण महातीर्थम' नामक कृति भी इसी बिंदु को लेकर लिखी गई है।

लेखक रामकथा को मात्र 'इतिहास' या 'आख्यान' न मानकर उसमें श्रुतियों के शाश्वत प्रतीकों का अनुसन्धान करता है और इस प्रकार उसे एक विशेष दार्शनिक एवं मिथकीय गरिमा से मण्डित करता है। 'इतिहास का निचोड़' या 'मधु' होता है मिथ और 'मिथ' का मधु होता है 'दर्शन'। "रामाख्यान में इतिहास, मिथ और दर्शन तीनों के स्तर एक से एक परस्पर जुड़े हैं। इसी से रामकथा एक ही साथ जनश्रुति मूलक 'इतिहास' 'काव्य' तथा सनातन 'श्रुति' तीनों है। श्री राय इस कथा को जातीय मन या भारतीय परमास्मृति की

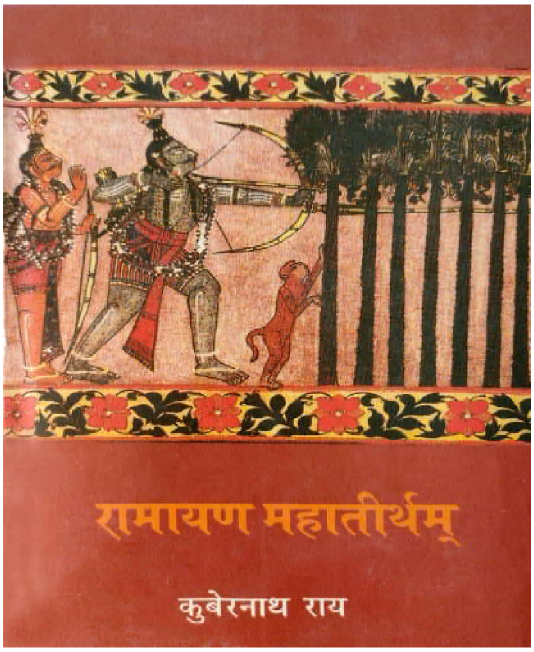

उपलब्धि मानते हैं। वाल्मीकि की काव्य प्रतिभा और सिसृक्षा-क्षमता स्वयं में पूर्ववर्ती मंत्र साहित्य और नाराशंसी गाथाओं से तथा आर्य-आर्येतर लोकसाहित्य के निचोड़ या मधु से जन्मी और परिपुष्ट हुई थी, अतः अनायास एवं सहज भाव से सारे पूर्ववर्ती काव्य-संस्कारों के बीज, बिंब और कथा-रूढ़ियाँ इसमें उतरते गये और स्थूल घटना के भीतर उन सारी संभावनाओं के बीज आ गये जो रामकथा के उत्तरकालीन विकास में पल्लवित होती गयी हैं। 'रामायण' के पात्रों एवं उसकी कथा-रूढ़ियों (अपहरण, संघर्ष, मुक्ति, भ्राता-युग्म आदि) में वैदिक स्मृतियाँ सहज ही निहित हो गयी हैं। 'सीता' शब्द वेदों में यज्ञवेदी पर विशेष युक्ति से खींची जाने वाली 'लांगल रेखा' के अर्थ में विद्यमान है, जिसकी अर्चना 'धान्य लक्ष्मी' के प्रतीकात्मक अर्थ में होती थी। धान्य लक्ष्मी का जीवनदाता 'मेघ' (लाक्षणिक अर्थ इन्द्र) है। इन्द्र का सहयोगी उपेन्द्र (आदित्य) है। दोनों ही सीता (धांय लक्ष्मी) को हिम-शीतादि से मुक्त करते हैं। इसी प्रकार वृत्र द्वारा प्रजापति की कन्या उषा का अपहरण और इंद्र-उपेंद्र द्वारा उसकी मुक्ति आदि कथाएँ भी वैदिक काल में ही सृजित हुई थीं। परमास्मृति के माध्यम से वाल्मीकि ने ऐतिहासिक रामाख्यान में इनको सहज आभासित किया, वाल्मीकि के बाद भी रामकथा विकसित-परिवर्धित होती रही, उसको लौकिक संस्कारों का बल मिलता रहा और वह रहस्य एवं मिथकीयता से मण्डित होती रही। 'रामायण' का वर्तमान संस्करण निश्चय ही वाल्मीकि के मूल 'रामायण' का बीज रखते हुए भी उससे (जो कि संभवतः महाकाव्य नहीं वरन 'रासक' या 'काव्यनाटिका' के रूप में वाल्मीकि के 'कुशीलव' शिष्यों द्वारा प्रस्तुत किया होगा।)' विस्तृत और रहस्यमय है। राय साहब पुराणों एवं महाभारतादि में उल्लिखित एकाधिक वाल्मीकियों को रामकथा की विकसनशीलता से जोड़ते हैं।

लेखक वैदिक प्रभावों के सारभूत रूप में रामकथा को 'सौर महाकाव्य' या 'नाक्षत्रिक महाकाव्य' मानता है। उसने वैदिक परासूर्य की अवधारणा की गूढ़ व्यंजना इसमें देखी है। भारतीय वाङ्मय के संदर्भ में ऐसी व्यंजनाओं को लेखक ने अपने व्याख्यान-ग्रंथ 'चिन्मय भारत' में आर्ष चिन्तन की एक प्रमुख प्रकृति के रूप में व्याख्यायित किया है, जिसके अंतर्गत हर वस्तु, व्यक्ति या घटना अपने सीमित देशाकाल - बद्ध ऐतिहासिक एवं भौतिक नाम-रूप से परे वैश्विक प्रतीक या शाश्वत प्रारूप बनकर सामने आती है। यही आर्ष दृष्टि की परोक्ष-प्रियता है। इस प्रकार 'रामायण' में ऐतिहासिक राम से अधिक शाश्वत 'रामत्व' का महत्व है और यह 'रामत्व' आर्य मनोभूमि में आदि-काल से विद्यमान 'सूर्यत्व' को धारण किये है। इसी की गूढ़ और दार्शनिक व्याख्या कुबेरनाथ जी के रामकथा विषयक लेखन में हुई है। आर्योपासना में कालान्तर में इंद्र, सोम और विष्णु को जो महत्ता मिली वह मूलतः उनके आदि देव 'सविता' से जुड़े रहने के कारण। सविता वास्तव में परब्रह्म का प्रथम सगुण रूप है और उसकी शक्ति है...सवित्री। राम का सूर्यवंशी होना और विष्णु, जो आदित्य है (और आदित्य ही सविता का द्वितीय रूप है) का अवतार होना, 'रामायण' में सप्तकांडों द्वारा

सप्ताक्षरी सावित्री-मंत्र (ह्रीं श्री सावित्र्यै नम:) की प्रतीकात्मकता, 'रामायण' के चौबीस हजार श्लोकों द्वारा सावित्रीमंत्र (ऊँ भूर्भुव:स्व: तत्सवितुर्वरेण्यं ...'') की अनुरूपता, रामायण के ठीक मध्य के श्लोक का सावित्री मन्त्र के मध्यस्थ वर्ण 'भ' से प्रारम्भ होना आदि इसमें सूर्य-सावित्री तत्व के गूढ़ संकेतक हैं। विश्वामित्र ही सावित्री-मन्त्र के रचयिता हैं और वे ही राम (जो सविता की विभूति के अवतरण है) को उनकी वैष्णवी शक्ति सीता से युक्त होने के ठीक पूर्व 'अहल्या' का साक्षात्कार कराते हैं। अहल्या उषा-रूपिणी प्रात: गायत्री का नाम है इसी तरह 'रामायण' में आगे सीता, अनुसूय्या और त्रिजटा क्रमश: मध्याह्न-सावित्री, सांध्य-सरस्वती और रात्रि-तुरीया के नाम हैं।[12] 'सामवेद' परासूर्य की ध्वजा है। सूर्य का साम 'वृहत्साम' है, क्योंकि उसका साम 'छंद या ऋत या वृहत' (सांख्य भाषा में प्रकृति) में चलता है। वृहत्साम विष्णु-स्वरूप गीता और इस प्रकार 'रामायण' भी वृहत्साम है।[13] सृष्टि के पंचपर्वा विकास का मूल नायक भी सूर्य है। तमस से उसका द्वन्द्व होता है। 'देवी आख्यान' में यही तमस महिषादि के रूप में है। इस तरह इन सबकी छाया 'रामायण' में उतरी है। श्रुति के परम मन्त्र (गायत्री-मंत्र) से सम्पृक्त होने के कारण लेखक 'रामायण' को 'काव्य बीजं सनातन' कहता है। सौर प्रतीकों के आधार पर रामायण का विवेचन लेखक के लक्ष्यानुसार उसे 'एक नये बौद्धिक सम्मोहन' से मंडित करता है। लेखक की मूल धारणा है कि "रामकथा एक रहस्य है......जहाँ स्थूल अभिधा के भीतर सूक्ष्म अर्थ निहित है। यह मानव-कथा होते हुए भी दिव्य कथा भी है क्योंकि इसकी अंतर्भूमि में दिव्य प्रतीकों को अन्तर्निहित करके इसके मर्म को गंभीरतर किया गया है...वस्तुत: यह काव्य तो 'गहि न जाइ अस अद्भुत बानी' है।''[8] श्रुति प्रतीकों के आधार पर 'रामायण' को शाश्वत और दिव्य आभा देने के बावजूद लेखक उसमें निहित उन मूल्यों के कारण ही प्रभावित है जो ''आज जब नैतिक धुरियाँ टूट रही हैं, देश और धर्म की बोरियाँ दिन-प्रतिदिन हाट-बाजार में तराजू में चढ.रही है....नारी का कुलवधू रूप प्रतिक्रियावादी माना जाने लगा है...तडातड़ लाठियाँ चल रही हैं किसी लाठी पर गाँधी का नाम लिखा, किसी पर नेहरू का तो किसी पर माओत्से तुंग...''[10] तब यह कथा समाधान के रूप में, एक महत्वपूर्ण विकल्प के रूप में हैं। वस्तुत: 'रामायण' की सौर प्रकृति उपासना एवं दर्शन तक ही नहीं जीवन से भी जुड़ती है। ''सूर्य या सविता प्राण, हरीतिमा, मधु, स्वास्थ्य, आरोग्य, पुष्टि, परिपक्वता, पवित्रता, तेज और तप का देवता है। रामकथा की प्रकति में सारे मूल्य समाहित हो गये हैं।''[20] 'रामायण' की शीलाचारिकी (एथिक्स) के मूल में है इस महाकाव्य की 'सौर' प्रकृति। यह शीलाचार ही ऋत है। ऋत अर्थात पथ, विधि, नियम, ऋत अर्थात सत्य, यज्ञ और हवि, ऋत अर्थात धर्म या शीलाचार-पथ जो सृष्टि की सारी गतियों के मूल में हैं...।''[22] उषा से वियुक्त होने के बाद सूर्य (और सारा मानवीय व प्राकृतिक जगत) तपता है। संध्या काल में उषा-सुंदरी की पुन: प्राप्ति होती है। पर शीघ्र ही अपयश, निंदा और अपमान-रूपी

काली रात में उसे पुन: निर्वासित होना पड़ता है। सूर्य भी दिगंत में मुख छिपा लेता है और आकाश-रूपी वाल्मीकि उषा-पुत्री को अपनी गोद में छिपाकर रात भर श्लोकों का अश्रुपात करता है। चैत्र-वैशाख में अपनी माधवी से वियुक्त होकर ग्रीष्म की तपन, वर्षा का मेघाडंबर, शरद की निर्मल साधना और हेमंत, शिशिर के कठोर संघर्ष के अनंतर सूर्य का पुन: वासंती माधवी से संयुक्त होना वस्तुत: सूर्य की दिवसीय और वार्षिक गति (अर्थात ऋतु एवं दिन-रात्रि का उत्स) संसति के चरम 'ऋत' के रूप में है और ऋत-मार्ग में जो संघर्ष, कठोरता और समर्पण होता है उसका भी चरम प्रतीक इसी सौर-व्यापार में निहित है।[24] 'रामायण' अर्थात राम-रूपी सूर्य का 'अयन वृत्त' यही ऋतबद्ध और यज्ञबद्ध जीवन प्रस्तुत करता है। समिधा की तरह ज्वलंत होकर, सोम की तरह मधुभाव होकर, यज्ञवेदी की तरह सहनशील होकर और मन्त्र की तरह व्यापक, उदात्त और देवसंयुक्त होकर जीने का अर्थात्‌यज्ञमय जीवन का,

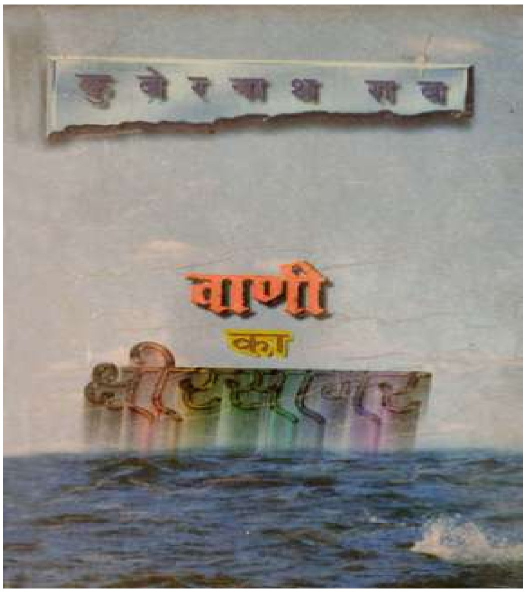

ऋतमय जीवन का 'अनुच्चरित आशीर्वाद' देता है। 'रामायण' यज्ञ अर्थात कर्ममय जीवन का प्रतीक है विराग और मोक्ष का नहीं। संघर्षों एवं संघातों से परिपूर्ण होने के बावजूद ऋत का पथ मधुमय होता है....'मधु वाता ऋतायते'। 'रामायण' ऋत और मधु का महाकाव्य है। आज के हताशा, भय और क्रोध के विषाद-युग में श्री राय रामकथा को जिजीविषा, करूणा और अभय की उठी हुई दक्षिण पाणि का रूप मानते हैं। रामकथा एक अभय हस्त रचती है प्रत्येक भारतीय के लिए। इस अभय हस्त के मूल में है आदि से अंत तक व्याप्त शीलप्रधान 'दृष्टि'। यही शील वह बल है जिस पर इस महाकाव्य का संकल्प-धर्मा प्रासाद अडिग स्थित है।[28] श्री राय के अनुसार, ''रामकथा की सारी गहराई और विस्तार को साधन मानकर जिस साध्य को स्थापित करने की चेष्टा उनके द्वारा हुई है वह है राम के व्यक्तित्व के तेजस्वी सौन्दर्य का उद्‌घाटन।''[29] राम का जीवन करुणा और संकल्प के संयुक्तीकरण से अद्भुत बन गया है। यह करुणा उनके उस त्याग और दुख-सहन की एक से एक स्थितियों में व्यक्त हई है, तो संकल्प आसक्ति-रहित अविराम कर्मयोग और पुरुषार्थ की साधना में। ''इसमें...स्मृति या भावना की कापुरूषता या तरलता के लिए कोई स्थान नहीं।''[30]

❖❖

संदर्भ

1. 'मराल' (अपने लेखन के बारे में) पृ.सं. 163
2. 'त्रेता का वृहत्साम' ('अकाल-बोधन') पृ.सं. 81
3. उपर्युक्त ('भूमिका') पृ.सं. 3
4. उपर्युक्त ('सीता-सावित्री') पृ.सं. 113
5. 'महाकवि की तर्जनी' ('वल्मीक-व्यूह में कवि-चक्षु') पृ.सं. 16-20
6. उपर्युक्त ('सुपर्ण वाल्मीकि') पृ.सं. 24
7. उपर्युक्त ('अंत में अपनी बात') पृ.सं.218
8. उपर्युक्त ('सुपर्ण वाल्मीकि') पृ.सं. 23-30
9. उपर्युक्त ('वाल्मीक-व्यूह में कवि-चक्षु) पृ.सं. 21 और 'ऋत और मधु का महाकाव्य' पृ.सं. 69 और 'कामधेनु' (दिवस का महाकाव्य) पृ.सं. 131
10. देखिए 'चिन्मय भारत' (अध्याय-2 'आर्ष चिंतन पद्धति और प्रकृति) पृ.सं. 32-34
11. देखिए...'त्रेता का वृहतसाम' में 'सीता-सावित्री पृ.सं. 118-119 और 'काव्यवीजं सनातनम् पृ.सं. 151 आदि।
12. देखिए-उपर्युक्त पुस्तक की 'भूमिका' प्र0सं0–5, 'उषा और अहल्या पृ.सं.-108, 'सीता-सावित्री' पृ.सं.-120 एवं 'सविता प्रधान महाकाव्य' खण्ड के अन्य निबंध
13. उपर्युक्त पुस्तक में 'काव्य बीजं सनातनम' निबंध पृ.सं.146-149,158 और 161
14. उपर्युक्त पुस्तक में 'अकाल-बोधन' पृ.सं. 78-80 'प्रथम नायक और प्रथम नायिका' पृ.सं. 100-104 और 'अनुसूया-प्रसंग' पृ.सं.-126 आदि निबंध द्रष्टव्य
15. उपर्युक्त पुस्तक में 'काव्य बीजं सनातनम' पृ.सं. 150,151,159
16. 'मराल' ('अपने लेखन के बारे में') पृ.सं. 164
17. त्रेता का वृहत्साम' ('अकाल-बोधन') पृ.सं.-80
18. उपर्युक्त पुस्तक ('सीता-सावित्री') पृ.सं. 121-122
19. महाकवि की तर्जनी' ('अंत में अपनी बात') पृ.सं.-222
20. 'त्रेता का वृहत्साम' ('काव्य बीजं सनातनम') पृ.सं.-159
21. उपर्युक्त ('अंत में दो शब्द')।
22. 'महाकवि की तर्जनी' ('ऋत और मधु का महाकाव्य') पृ.सं.-59
23. 'कामधेनु' ('दिवस का महाकाव्य') पृ.सं. 131-135
24. महाकवि की तर्जनी' ('ऋत और मधु का महाकाव्य') पृ.सं. 69-70
25. 'महाकवि की तर्जनी' ('ऋत और मधु का महाकाव्य') पृ.सं. 68,71
26. 'त्रेता का वृहत्साम' ('भूमिका') पृ.सं. 1
27. उपर्युक्त पृ.सं. 9
28. उपर्युक्त पृ.सं. 9,13
29. उपर्युक्त ('अंत में दो शब्द')
30. उपर्युक्त ('काव्य बीजं सनातनम') पृ.सं.-159

कुबेरनाथ राय के निबंधों में भारतीयता

● श्रीनिवास त्यागी

कुबेरनाथ राय हिन्दी निबंध साहित्य जगत में अपनी एक अलग पहचान रखते हैं। उनका स्थान हिंदी निबंध लेखन में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, और पंडित विद्यानिवास मिश्र की सामाजिक-सांस्कृतिक निबंध लेखन परंपरा की त्रिवेणी की एक नदी के रूप में है। "कुबेरनाथ राय मूलत: ललित निबंधकार के रूप में ही अधिक चर्चित-परिचित हैं। लालित्य उनके अधिकांश लेखन की स्वाभाविक भंगिमा है भी। पर वे अपनी आंतरिक निर्मिति में चिंतक और मनीषी हैं। मनुष्य,उसका देश यानी प्रकृति-परिवेश और मूल्य-संस्कृति उनकी चिंता का केंद्रीय विषय हैं जिसका व्यावहारिक रूप भारत देश, यहाँ के लोगों एवं उनकी संस्कृति में प्रतिफलित होता है। भारत एक महातीर्थ है, अनेक प्रवाहों का संगम है जिसमें आर्य-किरात-द्रविड़-निषाद सब शामिल है। भारत की संस्कृति इन सबकी संस्कृतियों के संश्लेषण या महासमन्वय का परिणाम है। यहाँ विशुद्ध कुछ भी नहीं है।"[1] उनका भारतीयता के प्रति यह विस्तृत दृष्टिकोण उनके गहन अध्ययन और देश

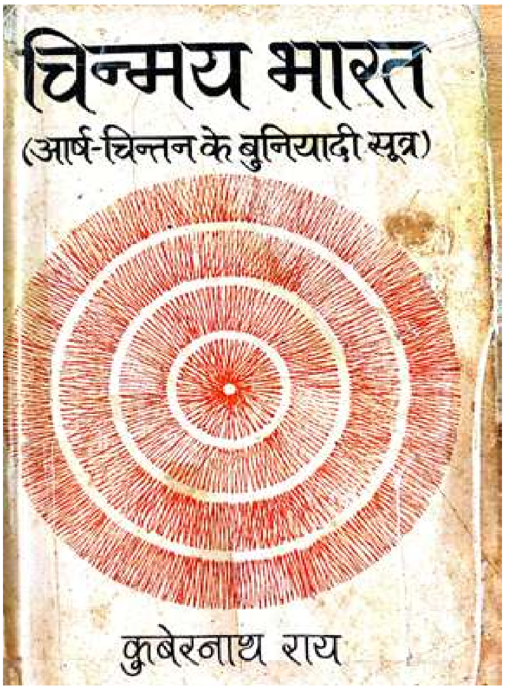

की गहरी समझ का परिचायक है।सच तो यह है कि "भारतीय चिंतन और हिन्दू जीवन-दृष्टि की गहरी समझ के लिए तो उनकी कृतियाँ प्रकाश स्तम्भ की तरह हैं।"[2] हम उनके साहित्य के माध्यम से भारतीय संस्कृति की थाती की गहरी समझ विकसित कर सकते हैं।

भारतीय संस्कृति और सभ्यता की अर्थात भारतीयता की इतनी लंबी विरासत को निबंध साहित्य में जिस प्रकार से कुबेरनाथ राय ने उकेरा है, उतनी शिद्दत से शायद ही किसी और हिन्दी निबंधकार में हमें दिखे। उनके लेखन में हमें भारतीयता का आर्तनाद और उत्सव दोनों दिखते हैं। उन्होंने अपने लेखन के बारे में स्वयं भी टिप्पणी करते हुए लिखा है कि "मेरा सारा

लेखन एक आर्तनाद है। आर्तनाद है हिंदुस्तान का, भले ही वह ऊपर से ललित लगे।"[3] इस आर्तनाद के साथ-साथ भारतीयता के उत्सव और जिजीविषा के दर्शन भी हमें उनके साहित्य में होते हैं। वह भारत और भारतीयता को ध्यान में रख कर ही निबंध लेखन के क्षेत्र में उतरते हैं, और वे "भारतीय अवधारणाओं को ही सत्य और सर्वोपरि मानते हैं तथा उन पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाते"[4] हैं, क्योंकि "कुबेरनाथ राय के सम्पूर्ण लेखन में भारतीयता और भारतीय संस्कृति का स्वर निरंतर और सबसे ऊपर गूँजता रहता है।"[5] उनके सम्पूर्ण लेखन में हम देख सकते हैं कि "कुबेरनाथ राय ने, अपने लेखन में, चाहे वह भारतीय हो या भारतीयेतर उसे अपनी दृष्टि यानी भारतीय दृष्टि से देखा है। यह भारतीय दृष्टि कोई पूर्व निर्मित या रूढ़ दृष्टि नहीं है; बल्कि ऋतंवरा प्रज्ञा से अर्जित सत्यान्वेषी दृष्टि है जो किसी वैचारिक कुहासे या दुराग्रह की धुंध से आच्छादित नहीं होती।"[6]

इस दृष्टि से उनके लेखन के स्वर की अनुगूँज को समझने से पहले, हमें भारतीयता को समझना होगा कि अंततः इसमें ऐसा क्या है कि हमारी हस्ती मिटती नहीं है। हमारी हस्ती का न मिटना इस भारतीयता की अमिटता में ही निहित है। भारतीयता को परिभाषित करना बहुत ही मुश्किल काम है, क्योंकि इसे परिभाषाओं के दायरे में बाँधना इसको सीमित करना है। ''भारतीयता शब्द 'भारतीय' विशेषण में 'ता' प्रत्यय लगाकर बनाया गया है। यह संस्कृत शब्द स्रोत से प्राप्त शब्द है 'ता' प्रत्यय के योग से संज्ञा भाववाचक संज्ञा के रूप में परिणत हो जाता है। भारतीय का अर्थ है भारत से संबंधित।''[7] पूरी दुनिया इस बात को मान चुकी है कि "अखंड चेतना का पर्याय है भारत। यह मात्र एक भौगोलिक इकाई नहीं, जिसे नदियों, पहाड़ों, मैदानों या समुद्र तटों से परिभाषित किया जा सके। यह तो संस्कृति की सनातन-यात्रा का यायावर है।इसे हम आलोक का महापुंज भी कह सकते हैं। 'भा' का अर्थ प्रकाश ही होता है। भारत यानी प्रकाश में रत, प्रकाश में लवलीन या यों कहें कि प्रकाश को अपने में समाया हुआ देश। विश्व में अनेक देश हैं। बड़े भी, छोटे भी, धनवान भी, गरीब भी; साम्राज्यवादी भी, शोषित भी, सामंती भी और प्रजातांत्रिक भी। फिर भारत की ऐसी क्या विशेषता है, जिसे हम एक अलग पहचान दे सकें? यह पहचान हैं आत्मप्रकाश के चिरंतन वैभव की। यह पहचान है असत्य से सत्य की ओर ले जानेवाली; अंधकार से आलोक की ओर ले जानेवाली तथा नश्वरता से अमरता की ओर ले जानेवाली उसकी अटूट सांस्कृतिक परंपरा की। शताब्दियाँ बीत गई, पर यह पहचान अक्षुण्ण रही। परिस्थितियों के झंझा वात इसे कभी भी धूमिल नहीं कर सके, न कभी कर सकेंगे।"[8] इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारतीयता ऐसा सनातन सत्य वैभव और विचार है, जिसमें हमें भारतीय तत्वों की झलक दिखाई पड़ती है।

भारतीयता में भारतीय संस्कृति के मूल्य और संस्कार अंतर्निहित हैं। पूरी दुनिया में हमारी पहचान भारतीयता के कारण, भारतीय संस्कृति के कारण है। भारतीयता में अपनी मातृभूमि के प्रति लगाव, अपनी भारतीय भाषाओं के प्रति अनुराग तथा भारतीय संस्कृति के प्रति रागात्मकता जैसे प्रमुख

तत्व अंतर्निहित हैं। राष्ट्रऋषि स्वामी विवेकानंद के शब्दों में ''भारतीयता आध्यात्मिकता की तरंगों से ओतप्रोत है।''[9] इतना ही नहीं उन्होंने इसका विस्तार करते हुए लिखा है कि ''ऐ भारत! भूलना नहीं कि तुम्हारे स्त्रियों का आदर्श सीता, सावित्री दमयंती हैं। भूलना नहीं कि तुम्हारे उपास्य सर्वत्यागी उमानाथ शंकर हैं, भूलना नहीं कि तुम्हारा विवाह, तुम्हारा धन और तुम्हारा जीवन इंद्रिय सुख के लिए नहीं भूलना नहीं कि नीच, अज्ञानी तुम्हारे रक्त मांस हैं।...गर्व से बोलो मैं भारतवासी हूँ और प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है।"[10] व्यष्टि का समष्टि के प्रति यह अपनत्व का भाव भी भारतीयता का ही अपना एक विशेष गुण है।

भारतीयता की बहुआयामी परिभाषा करते हुए रमेश कुंतल मेघ ने लिखा है कि ''भारतीयता भूगोल एवं इतिहास एवं समाज (स्पेस, टाइम एंड पीपुल) त्रिकोण में एक गतिमान तथा अनवरत विशिष्टता है। यह राष्ट्र एवं समाज की सभ्यता तथा संस्कृति की उपलब्धि और जीवन विधि है। यह कुछ मूल्यों (धूरियों), प्रतीकों, तथा रिनेसांओं (पद्धतियों) से उपमित होती रहती है। यह राष्ट्र या समाज की समूहावलंबनात्मक सामाजिक एवं सांस्कृतिक सत्व का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य है। यह भावात्मक एवं भौगोलिक स्वभाव संस्कारपरक भी है। यह विशिष्ट है तथा सांस्कृतिक प्रतीकों की अनुगामिता से अभिषेकित एवं अभिव्यंजित होती है। इस तरह भारतीयता विशिष्ट, विविध एकताधर्मी तथा (विश्व इतिहास में) वैश्विक (यूनिवर्सल) भी है।"[11] इतनी विशदता लिए भारतीयता का मूल-प्राण क्या है? महर्षि योगी अरविंद के अनुसार ''भारतीयता का प्राण धर्म है, इसकी आस्था धर्म है और इसका भाग धर्म है।''[12] हमारी सांस्कृतिक विरासत में सब कुछ धर्मानुकूल ही अपेक्षति है।

धर्म की धुरी पर ही अर्थ, काम और मोक्ष टिके हुए हैं-हमारी जीवन पद्धति और संस्कृति में, इस सनातन सत्य की ओर संकेत करते हुए सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय एकदम सटीक लिखते हैं ''भारत की आत्मा सनातन है। भारतीयता केवल एक भौगोलिक परिवेश की छाप नहीं एक विशिष्ट आध्यात्मिक गुण है, जो भारतीय जन को सारे संसार से पृथक करता है। भारतीयता मानवीयता का निचोड़ है, उसकी हृदय मणि है, उसका शिरसावंत है, उसकी नाक का बेसर है। भारतीयता आखिर है क्या? भारत की आत्मा का वैशिष्ट्य किसमें है? तो अचकचा जाएँगे। फिर खिसियानी सी हँसी हँस देंगे, हें हें, यह भला कोई पूछने की बात है, आप तो मजाक करते हैं, भारत की आत्मा माने ......हाँ हाँ सदियों से सब जानते हैं, भारत की आत्मा माने भारत की आत्मा। हाँ हाँ वही तो।''[13] धर्माधारित आध्यात्मिकता ही भारतीयता का मूल मंत्र है।

इस भारतीयता का चरमोत्कर्ष हमें वेदान्त में दिखता है। विद्यानिवास मिश्र जी के अनुसार ''नानात्व में एकता का दर्शन ही भारतीयता है। व्यवहार और परमार्थ की पहचान ही भारतीयता है भाव और विज्ञान का ऐक्य ही तो भारतीयता है।"[14] इन सभी परिभाषाओं के आधार पर सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति के जीवन-मूल्यों के अनुसार जीवन

यापन करना भारतीयता है, इन जीवन मूल्यों को अपने विचार और व्यवहार में लाकर जनकल्याण के लिए इनका प्रचार-प्रसार करना भारतीयता है। 'अयं निज: परो वेति गणना लघु चेतसाम्उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम' यह हृदय की विराटता का भाव भी भारतीयता की देन है। इस प्रकार भारतीयता का अर्थ है-भारतीय जीवन की समग्र सांस्कृतिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक परम्परा, भारत-वर्ष का सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं धार्मिक इतिहास, भारतवर्ष की पुरातन, अधुनातन विरासत की पृष्ठभूमि, भारतवर्ष की विराट मानवीय संवेदना, भारतवर्ष की कला, दर्शन और साहित्य।जीवन के हर क्षेत्र में हमें भारतीयता के एक ही भाव के दर्शन होते है, जो भारत-वर्ष के प्राचीन दर्शन एवम भारत के अध्यायत्म को समष्टि के जीवन से जोड़ कर देखते हुए सृष्टि के कण-कण में परमात्मा के दर्शन करता है। भारतीयता पूरे मानव इतिहास का सार तत्व है, भारतीय जीवन-दर्शन का निचोड़ है, मानव जीवन के आदर्शों का उच्चतम लक्ष्य है।

कुबेरनाथ राय ने इस भारतीयता के भाव और विचार को अपनी लेखनी के माध्यम से कैसे और कितनी गहराई से चित्रित किया है। इस बात का गहराई से विवेचन करते हुए विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने सटीक टिप्पणी करते हुए लिखा है कि "कुबेरनाथ राय जब अपने प्रिय विषय-भारतीयता और भारतीय संस्कृति पर विचार करते हैं तो इतिहास, भूगोल, नृतत्वशास्त्र, भाषा-विज्ञान और लोक-साहित्य के गहन अध्येता और प्रकांड पंडित लगते हैं। ऐसे स्थलों पर वे शब्दों की व्युत्पत्तियों की छानबीन अदभुत गहराई से करते हैं और इस छानबीन में अपनी कल्पनाशील मौलिक प्रतिभा का भी सहारा लेते हैं।"[15] ऐसा वह इसलिए कर पाते हैं, क्योंकि वे भारतीयता के अमर गायक, विचारक और चिंतक हैं।

भारत के बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं "जब मैं भारत शब्द को पढ़ता-सुनता या बोलता हूँ तब चेतन स्तर पर इसका सही अर्थ 'हिंदुस्तान' तो तुरंत पाता ही हूँ, साथ ही एक विचित्र प्रकाशमय-संगीतमय अर्थ का मानसिक भोग भी प्राप्त होता है; और मैं तब 'भारत' शब्द का अर्थ लगाता हूँ यह भौगोलिक हिंदुस्तान ही नहीं, बल्कि एक दिव्य कल्पलोक, एक प्रकाशमान चिन्मय जगत जिससे शताब्दी-दर-शताब्दी निरंतर उस आलोक का वितरण हो रहा है, जो हमारी सारी उपलब्धियों,सारे संस्कारों एवं सारे कृतित्व के पीछे सक्रिय है। और जब-जब एवं जहाँ-जहाँ इस चिन्मय ज्योति:सरा की धार में रुकावट व्यवधान या आड़ आ गई है तब-तब और तहाँ-तहाँ हमारे जातीय अस्तित्व का लोप हुआ है। और, तब मुझे, उस व्याकरणी की, खींचतान कर ही सही, प्रस्तुत की गई बात कि 'भारत' शब्द का संबंध 'भास्वरता से है और 'भारत' का निरुक्तिगत अर्थ होगा प्रकाशमय या भास्वर लोक, बिल्कुल सही जँचती है; यद्यपि इस बात का ऐतिहासिक आधार नहीं। ऐतिहासिक दृष्टि से 'भारत' एक पौराणिक शब्द है। इस शब्द की व्याख्या महाकाव्यों और पुराणों में वर्तमान है।"[16] इस लेख में उन्होंने भारतवर्ष के नामकरण के विशद प्राचीन इतिहास को सरस और सहज भाषा

में कथात्मक रूप में हमारे सामने रख दिया है। वे कई विद्वानों की मान्यताओं को सामने रखकर अपनी बात स्पष्ट रूप से कहते हैं कि "मैं सदैव अनुभव करता हूँ कि भारत एक भौगोलिक-राजनैतिक इकाई से भी अधिक सत्य एवं शाश्वत है। एक विशिष्ट संस्कार-समूह के रूप में, एक विशिष्ट बोध-सत्ता के रूप में अर्थात अपने चिन्मय रूप में। भारत की यह निराकार मूर्ति (अर्थात संस्कार समूह के रूप में) सूक्ष्मतर होने की वजह से अधिक कालजयी है। कोई जवाहरलाल या कोई जिन्ना इसका पार्टीशन या बंदर-बाँट नहीं कर सकता।"[17] क्योंकि उनका स्पष्ट मत है कि "जंबूद्वीप का यह 'भरतखंड' भौगोलिक 'हिंदुस्तान' या 'इंडिया' नहीं, बल्कि सम्पूर्ण 'मानव-भूमि' या 'मनुजस्तान' का प्रतीक है जिसमें जीवन की धुरी है कर्म।"[18] वे लिखते है कि "भारत की सत्ता के तीन रूप हैं: मृण्मय भारत, शाश्वत भारत, और चिन्मय भारत। और भारत की सत्ता का सम्पूर्ण ज्ञान उपलब्ध करने के लिए तीनों को समझना आवश्यक है,क्योंकि इन तीनों के माध्यम से ही भारत अपना चतु: पुरूषार्थ साधित कर रहा है।"[19] यानी "1-मृण्मय (अर्थात भौगोलिक-आर्थिक-जैविक दृष्टि से)2-शाश्वत (ऐतिहासिक अविच्छिन विकास की दृष्टि से)3-चिन्मय(श्रुति अर्थात अचल मूल्यों की दृष्टि से,यानी मूल प्रकृति या मोहम की दृष्टि से)। इन तीनों कोणों से भारत का अध्ययन करके सम्पूर्ण भारतीय सत्ता या भारतीय पुरुषार्थ को हम समझ सकते हैं।"[20] हनुमानप्रसाद शुक्ल ने उनके भारत और भारतीयता संबंधी दृष्टिकोण का मूल्यांकन करते हुए सही लिखा है कि "कुबेरनाथ राय द्वारा आविष्कृत भारत केवल मृण्मय भारत (भौगोलिक) नहीं है; बल्कि उसकी मनोमय और उससे भी बढ़कर चिन्मय सत्ता है। इस मनोमय और चिन्मय भारत के मूल्यों, प्रतीकों, मिथकों आदि का अद्भुत भाष्य है कामधेनु संग्रह और उन्हें सूत्रबद्द करने का व्यवस्थित प्रयत्न हैं चिंमय भारत। इस तरह कुबेरनाथ राय भारतीयता के आविष्कर्ता, भाष्यकार और स्मृतिकार तीनों हैं।"[21]

कुबेरनाथ राय अपने साहित्य के बारे में स्वयं भी लिखते हैं कि "जिस भारत की बात मेरे सम्पूर्ण साहित्य में आती है वह है इस देश का चिन्मय और मनोमय संस्करण।"[22] और "इस चिन्मय भारत का सगुण अवतरण है राम कथा जिसके नायक राम भारतीयता के मूर्तिमान विग्रह हैं। रामकथा कुबेरनाथ राय के लिए सम्मोहन की सीमा तक आकर्षण का विषय सदैव रही है।"[23] उनका मत है कि "राम शब्द के मर्म को पहचानने का अर्थ है भारतीयता के सारे स्तरों के आदर्श रूप को पहचानना।"[24] वे भारतीयता के आदर्श स्वरूप को रामकथा के माध्यम से अपने पाठक समुदाय के सामने रखकर भी "रामकथा के अलावा शेष भारतीय साहित्य के संदर्भ भी कुबेरनाथ राय के लेखन में 'प्रिया नीलकंठी' से लेकर मरणोत्तर प्रकाशनों तक भरपूर परिमाण में भरे पड़े हैं। वैदिक-औपनिषदिक साहित्य से लेकर वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, बाणभट्ट, भवभूति, तुलसीदास रवींद्रनाथ आदि अनेक भारतीय साहित्यकारों के साहित्य-संदर्भ प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष,किसी-न-किसी रूप में अनेकत्र देखे जा सकते हैं। लोकजीवन और संस्कृति के साथ भारतीय साहित्य उनके लेखन

का सबसे बड़ा उपजीव्य रहा है।"[25]

भारतीयता उनके अनुसार "सम्पूर्ण भारत की सत्ता, उसके देह-मन का समवाय संयुक्त भाव से चतु:पुरुषार्थ (अर्थ-काम-धर्म-मोक्ष) की उपासना में लीन है।"[26] उनके भारत और भारतीयता में कोल-किरात और निषाद सभी शामिल हैं। वे लिखते हैं कि "चिन्मय भारत का एक बीज है-वेदांत। यह वेदांत-बीज प्रत्येक भारतीय के व्यक्ति चैतन्य में एक विशिष्ट आकार लेता है, 'प्रदेश' (अर्थात मृण्मय भारत की सापेक्षता में) और 'काल' (अर्थात शाश्वत भारत की सापेक्षता में) दोनों के अनुसार। कभी इस वेदांत का रूप यज्ञ रहा, तो कभी शंकर अद्वैत हुआ। कभी विशिष्टताद्वैत और भक्ति बना,तो कभी सन्यास-योग रहा। इसी बीज ने बीसवीं शती में अपना एक सामाजिक अर्थनीतिक संस्करण सर्वोदय भी उपस्थित किया है। बीज चिन्मय है, श्रुति है, परंतु आकृति विन्यास होता है देशानुरूप, युगानुरूप और विषयानुरूप। रवींद्रनाथ की कविता और गांधीजी का सर्वोदय-दर्शन दोनों का मूल बीज है वेदांत जिसका स्रोत है-चिन्मय भारत। हमारी भारतीय साधना, शिल्प, साहित्य एवं दार्शनिक चिंता आदि की उच्चतम स्थितियों में चिन्मय भारत ही व्यक्त होता है।"[27] उनके लिए मनसा, वाचा, कर्मणा भारतमय होना ही भारतीयता है। स्वयं वे लिखते हैं कि "कभी मैंने लिखा था 'अहं भारतोअस्मि'। इस वाक्य पर जितना ही मैं चिंतन करता हूँ, उतना ही यह सटीक और अर्थवान लगता है। अपने सारे उदात्त और ललित अनुभवों का स्रोत है भीतर स्थित यही मानसलोक का चिन्मय भारत।"[28]

वे भारत के वृहत सांस्कृतिक-सामाजिक इतिहास का विवेचन करते हुए लिखते हैं कि "भारतीय किरात-वंश की बोडो-कछारी शाखा के प्रतिनिधि हैं जो हजारों वर्षों से भारतीय सभ्यता में दाखिल हो जाने के बावजूद आंशिक रूप से अपनी आदिम आरण्यक वृत्तियों को बचाकर चल रहे हैं, छोड़ नहीं पाए हैं, लद्दाख से अरुणाचल तक हिमालय से नागालैंड तक। सारे इतिहास में भारतीय किरात निरंतर धावमान हैं। परंतु अब और नहीं। इस शताब्दी का अंत होते-होते इसके चरण थक जाएँगे और हमें आशा है कि यह भी शेष भारत की डिजाइन में आ जाएगा, बिना अपना चेहरा बदले या अंग भंग किए,"[29] क्योंकि भारतीय इतिहास में भारत के साथ ऐसा कई बार हुआ है "इतिहास में विजेता जाति पराजित जाति को हीन भाव से देखती है। हिंदू शब्द इस्लाम से पुराना है। परंतु मुस्लिम विजय के बाद फारसी कोष में इसका अर्थ 'गुलाम' हो गया। पाखंड बौद्धों का एक संप्रदाय था। परंतु बौद्धपराभव के बाद यह शब्द कपटाचार का द्योतक हो गया।"[30]

कुबेरनाथ राय मानते हैं कि "भारतीय इतिहास की विकास-धारा में एक इच्छा-शक्ति या काम-शक्ति निरंतर सक्रिय है, जो हमारी जातीय आकृति और प्रकृति को दल-प्रतिदल प्रस्फुटित करती हुई हमें एक स्वतंत्र चरित्र देती है,जिसकी संज्ञा नव्य आर्य या भारतीय आर्य हैं। इस नव्य आर्य की आकृति महाकाव्य-संस्कृति से प्रारंभ होकर तिलक-गांधी-रवींद्रनाथ तक अविच्छिन्न रूप में विद्यमान है।"[31] भारतीय साहित्य में प्रचलित "मनुष्यों और अप्सराओं की इन प्रेम-कथाओं में

भारत के समूह मन में निरंतर लीला करती हुई इच्छाशक्ति या क्लीं का ही खेल व्यक्त हो रहा है। यह इच्छा शक्ति ही भारतीय जाति के महासमन्वय के मूल में है। कालिदास सही अर्थ में राष्ट्रीय कवि इसलिए भी हैं कि इस महासमन्वय के दो केंद्रीय आख्यानों को उन्होंने अपने नाटकों का विषय बनाया है।उनके दोनों नाटक विक्रमोर्वशीयम् और शाकुंतल भारतीयता के जन्म-रहस्य का उद्घाटन करते हैं। इन नाटकों का विषय ही है भारतीयता की प्रसव-कथा।"[32] इस प्रकार वे भारतीयता के प्रसव-प्रसंग से लेकर उसके वट-वृक्ष बनने की पूरी प्रक्रिया को अपने लेखन के माध्यम से वाणी प्रदान करते हैं। उनका मत है कि "बुद्ध परंपरा भारतवर्ष की पुरानी श्रमण-परंपरा की ही संतान है जो वैदिक युग से ही ब्राह्मण परंपरा के समानांतर चलती है और वीतराग जीवन का, तप और व्रताचार का उपदेश देती है।"[33] और "ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में भारतीय धर्म साधना के दो चक्र एक साथ चल रहे थे। एक तो पुराना ब्राह्मण धर्म लोक-संस्कृति और लोक-धर्म से बल प्राप्त कर अपना काव्यमय पौराणिक उपवृंहण कर रहा था जिसकी केंद्रीय धारा थे भागवतगण। दूसरी ओर था राज्य-समर्थित बौद्ध महायान धर्म जो प्रज्ञा के साथ-साथ महाकरुणा को भी लोकोत्तर बुद्ध-हृदय की मूलशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित कर रहा था और कला-साहित्य का आश्रय पकड़कर अपने को सर्वजनग्राही और आकर्षक बनाने की चेष्टा में संलग्न था।"[34] भारत के धार्मिक इतिहास के विकास का यह विवेचन वे एकदम भारतीय दृष्टि और विवेक से करते हैं।

वे स्पष्ट मानते हैं कि "भारतीय मन का विकास यहाँ के इतिहास-भूगोल के भीतर कुछ ऐसे ढंग से हुआ है कि जीवन-लीला के रागात्मक तत्व को अस्वीकार करने वाला सिद्धांत यहाँ पर पराजित हुआ है। यहाँ पर ही क्यों अन्यत्र भी। समस्त विश्व में; सारी मनुष्य जाति के इतिहास में विराग और अस्वीकृति को पराजित ही होना पड़ा है। मनुष्य का अस्तित्व ही कुछ ऐसा है कि बौद्धिक और नैतिक मनोवृत्तियों को रागात्मक के साथ सामंजस्य करके ही वह अपनी अंतर्निहित मनुष्यता की रक्षा कर सकता है। सामंजस्य, समायोजन और मध्यम मार्ग-यही सही रास्ता हैं।"[35] भारतीय जनमानस इसी जीवन-दृष्टि को लेकर जीता है।

वे भारत की आस्तिकता का मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं कि "नटराज मूर्ति भारतीय संस्कृति की महान आस्तिक परंपरा का प्रतीक है जिसका बीजारोपण अनार्य मन में हुआ, पर अंकुरण एवं संवर्धन आर्य-अनार्य दोनों की अखिल भारतीय साधना द्वारा हुआ। मुझे तो कभी-कभी लगता है कि यह नटराज स्वयं साक्षात हिंदुस्तान है जिस का प्राचीन नाम था 'अजनाभ वर्ष' और जंबू-द्वीप तथा नया संवैधानिक नाम है भारत। इसके ललाट का तृतीय नयन और इसके वामहस्त की अग्नि आर्य का प्रतीक है। इसके शीश पर चंद्रमा और गंगा की धारा निषाद (Austeric या कोल)का प्रतीक है। इसकी डमरु ध्वनि और अभय तथा मंगलहस्त मुद्राएँ द्राविड़ को व्यक्त करती हैं। इसका मुंडमाल शृंगार और सर्प मेखला किरात (भोटमंगोलीय) की अभिव्यक्ति है। इस नटराज

का नृत्य हमारी संस्कृति की चतुर्मुखी सिसृक्षा (Cereative uerge) का नृत्य है। जहाँ-जहाँ तक यह नृत्य जाता है, वहाँ-वहाँ तक हमारी यज्ञ-भूमि का विस्तार होता जाता है।यह नटराज प्रतिमा उत्तर-दक्षणि-पूरब-पश्चिम के चतुर्दिक भारत को व्यक्त करती है।"[36] इस अद्भुत समन्वय के चलते "जातीय तत्वों और निसर्गश्री की दृष्टि से मृण्मयी भारतीयता बड़ी चित्र-विचित्र है, बड़ी रंग-बिरंगी है। शकुंतला मृण्मय भारत की इसी श्री अर्थात शोभा और ऋद्धि का प्रतीक है।"[37] वे भारतीयता को प्रकृति के साथ जोड़कर देखते हुए लिखते हैं कि "भारतीय चिंता प्रकृति से घनिष्ठ भाव से जुड़ी चलती है।"[38] "दार्शनिक चिंतन और बौद्धिक ऊहापोहों में भी भारतीय प्रकृति की कनिष्ठिका से कनिष्ठिका मिलाए हुए तल्लीन चलता है।सांख्य में प्रकृति विधेय रूप में विद्यमान है तो वेदांत में निषेध रूप में पर है वह सर्वत्र वही माया (ह्रीं) ही। वही काम-शक्ति(क्लीं) है। वही विद्याएँ है। वही सब के मूल में बैठी स्थितिकाल की पद्मश्री है और केवल अवसान काल में निर्गुण ऊँकार द्वारा समेट ली जाती है।"[39] कुबेरनाथ राय मानते हैं कि "यह भारतीय चिंता की मौलिक विशिष्टता है कि वह अप्राकृतिक, असहज और अवदमित से न जुड़कर सहज प्रकृति को स्वीकार करके चलती है।"[40]

वे भारतीय समाज और संस्कृति के साथ-साथ देश की राजनैतिक व्यवस्था पर भी विचार करते हुए लिखते हैं कि "अंग्रेज गया, हिंदरेज मालिक बना। जब हिंदरेज हटेगा तो वह जन आएगा और जनतंत्र आएगा।"[41] तब ही "देश की अंतर्निहित आत्मशक्ति और इसकी पुंजीभूत 'राष्ट्री' शक्ति का जागरण निश्चय ही होगा। तब तक ये भैंसे आसेतुहिमाचल वसुंधरा को रौंद लें, यह सुजलाम सुफलाम शस्य श्यामला मही इनकी शाश्वत जमीदारी नहीं हो सकती है।"[42]

राष्ट्र भक्ति, देश-भक्ति क्या है? इसको समझाते हुए वे लिखते हैं कि "वर्तमान स्थिति का एकमात्र समाधान देशात्मबोध देश के आत्म (सेल्फ) की सही पहचान से, सही राष्ट्रीय संवेदना से ही देशभक्ति की सही आकृति मनबुद्धि और आत्मा के स्तर पर उपलब्ध हो सकती है। आधुनिक चिंतन शैली ने इस देश आत्मबोध के प्रति हमें संशयशील बना दिया है। हममें जो बुद्धिमान और संवेदनशील हैं, वे इस स्थिति में पड़कर संशयात्मा बन चुके हैं और जो दुरात्मा हैं, वही उग्र आत्मविश्वास से उबल रहे हैं। देश की आत्मा को पहचानने का अर्थ है देश को पूरे भूगोल-इतिहास के संदर्भ में पहचानना। वे जो यह कहते हैं कि भारत माता का अर्थ मात्र वर्तमान जन गण हैं, वे या तो भ्रांत हैं अथवा धूर्त हैं और उन्होंने ही जन-गण की सत्ता को मात्र मतदाता सूची तक ही सीमित कर दिया है और देश की सत्ता को मतदान केंद्र में। आज की राजनीति के साँड-भैंसे इस चिंतन की ही रक्तबीज संतान हैं। देश को राजनीति के बाहर जाकर इतिहास, भूगोल, धर्म, संस्कृति और समाज में पहचानना होगा। ऐसा देशात्मबोध ही सबल और सही देशभक्ति को जन्म देगा। देशभक्ति को छोड़कर और कोई उबरने का रास्ता ही नहीं है।"[43] इस प्रकार से स्पष्ट है कि भारतीयता के संदर्भ में "उनके लेखन का परास (रेंज)या परिविस्तार अपनी अंतर्वस्तु

और चेतना में अखिल भारतीय या राष्ट्रीय था। उनके लेखन के भूगोल की स्थानीयता अपनी निजता के बावजूद भारतीय या राष्ट्रीय से असंपृक्त कभी नहीं रही।"[44] सच में हमारा देश "भारत, जो सनातन है, सहस्रशीर्षा है, महातीर्थ है। उनका समूचा लेखन इसी भारत से एकाकार होने, उसके भीतर के हाहाकार और आर्तनाद को आत्मसात करने तथा समष्टिगत अनुभवों से तदाकारता की कोशिश है। 'अहं भारतोअस्मि' का बोध उनके लेखन का उद्घोष है। इसीलिए कुबेरनाथ राय के लेखन में संस्कृति का अर्थ है भारतीय संस्कृति। पर स्वयं भारतीय का अर्थ बहुत व्यापक है। यही कारण है कि कुबेरनाथ राय 'भारतीयता' के प्रश्न को अति प्रश्न या चरम प्रश्न के रूप में देखते हैं और उसकी परिभाषा या सुनिश्चित लक्षण-निरूपण असंभव मानते हैं। फिर भी, भारतीयता के प्रत्यभिज्ञान या उसकी सही आइडेंटिटी के पुनराविष्कार की कोशिश ज़रूर है, और यह कोशिश इतिहास-नृतृत्व-पुरातत्व -मिथक-भाषाशास्त्र-साहित्य-मूल्य बोध सभी आयामों से की गई है।"[45]

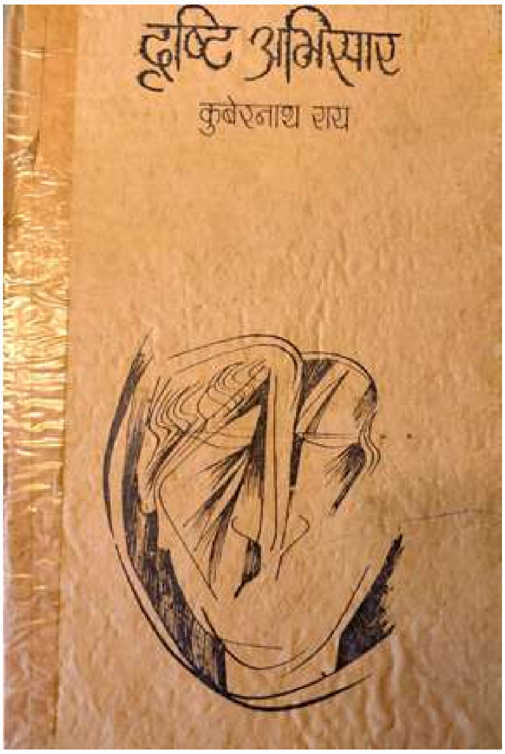

हम उनके समग्र साहित्य के विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि "कुबेरनाथ राय इसी विराट भारत के संघटक अवयवों और उनकी संरचना-प्रक्रिया को पहचानने और विश्लेषित करने का उपक्रम करते हैं। जैसे यह भारत बहुरंगी, बहुरूपी और बहुआयामी है; वैसे ही भारत की संस्कृति भी है और उसके वाचक मूल्य और प्रतीक भी। यानी 'भारतीयता' की कोई एकल पहचान नहीं हो सकती। कई अंतर्विरोध या परस्पर विरुद्ध चीज़ें भी दिखाई पड़ सकती हैं, पर उनका समाहार करने या विरूद्धों के सामंजस्य की अंतर्निहित शक्ति सर्वोपरि है। विरुद्धों का यह सामंजस्य किसी जोड़-तोड़ का परिणाम नहीं होता, बल्कि सत्यान्वेषण की सतत चेष्टा का फल होता है जिसे ऋत कहा जाता है; ऋत यानी कालप्रवाही सत्य। कुबेरनाथ राय सत्य को अस्ति यानी जो है और ऋत को भवति यानी जो हो या चल रहा है, के रूप में परिभाषित करते हैं। समूचा भारतीय साहित्य ऋतंवरा यात्रा है, ऋत का अन्वेषण है; कुबेरनाथ राय का साहित्य भी। भारतीयता कालप्रवाही 'सनातन सत्य' यानी ऋत का सगुण विग्रह है। कुबेरनाथ राय का संपूर्ण लेखन इसी भारतीयता के प्रत्यभिज्ञान-पहचान, व्याख्या और विश्लेषण की कोशिश है, उसके सगुण विग्रह को मूर्तिमान करने का उपक्रम है।"[46]

कुबेरनाथ राय के लिए "भारतीयता एक संयुक्त उत्तराधिकार है और इस उत्तराधिकार के रचयिता सिर्फ आर्य ही नहीं रहे हैं। वस्तुत: आर्यों के नेतृत्व में इस संयुक्त उत्तराधिकार की रचना 'द्राविड़-निषाद-किरात' ने की है। ग्राम-संस्कृति और कृषि-सभ्यता का बीजारोपण और विकास निषाद द्वारा हुआ है। नगर सभ्यता, कलाशिल्प, ध्यान-धारणा भक्तियोग के पीछे द्रविड़ मन है। आरण्यक शिल्प और कला संस्कारों में किरातों का योगदान है। सबूत हैं नृतत्वशास्त्र, भाषा-विज्ञान तथा प्रागैतिहासिक (प्री-हिस्ट्री) के अवशेष। भारतीय ब्रह्मा चतुरानन हैं,जिनके चार मुख हैं: आर्य-द्रविड़-किरात-निषाद। इन चारों के समन्वय से जो संस्कृति निर्मित होती है,वह है नव्य आर्य। इस नव्य आर्य का विस्तार-प्रसार होता है दक्षणि-पूर्व एशिया यानी वृहत्तर भारत में। इसी विषय पर केंद्रित है उनका संग्रह 'मन पवन की नौका'।"[47] उनके अधिकांश निबंध संग्रह भारतीयता की महागाथा का ही गायन करते हैं, जिनमें से चार निबंध संग्रह- "निषाद बाँसुरी, किरात नदी में चंद्रमधु, उत्तरकुरु, मन पवन की नौका, का विशेष महत्व हैं। कुबेरनाथ राय का पूरा निबंध साहित्य ही वैसे तो भारत की आत्मा और भारतीयता की पहचान, समझ और पुनराविष्कार का गंभीर और गहन प्रयास है।

❖❖

संदर्भ

1-कुबेरनाथ राय रचना-संचयन-चयन एवं संपादन-हनुमानप्रसाद शुक्ल, साहित्य अकादमी, प्रथम संस्करण-2014, भूमिका से, पृष्ठ-23

2-कुबेरनाथ राय-विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, साहित्य अकादमी, सं-2014, पृष्ठ-13

3-कुबेरनाथ राय:सांस्कृतिक-साहित्यिक दृष्टि-पी.एन.सिंह, प्रतिश्रुति प्रकाशन-कोलकाता, प्र.सं-2012, पृष्ठ-8

4-कुबेरनाथ राय-विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, साहित्य अकादमी, सं-2014, पृष्ठ-27

5-कुबेरनाथ राय-विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृष्ठ-28

6-कुबेरनाथ राय रचना-संचयन-चयन एवं संपादन-हनुमानप्रसाद शुक्ल, भूमिका से, पृष्ठ-22

7-'मानवमूल्य-परक शब्दावली का विश्वकोश' (तीसरा खंड), संपादक-धर्मपाल मैनी, प्रकाशक-स्वरूप एंड संस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृष्ठ-1287

8-भारत और भारतीयता-हरिश्चंद्र व्यास, प्रकाशक-विद्या विहार, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2010,पृष्ठ-7

9-'मानवमूल्य-परक शब्दावली का विश्वकोश'(तीसरा खंड), संपादक-धर्मपाल मैनी, प्रकाशक-स्वरूप एंड संस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005,पृष्ठ-1287

10-'स्वामी विवेकानंद की वाणी'-संपादक-रामकृष्ण मठ नागपुर, प्रकाशक-ब्रह्मस्थानंद प्रकाशन-नागपुर, अष्टम संस्करण-1987, पृष्ठ-54

11-'आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण'-रमेश कुंतल मेघ, अक्षर प्रकाशन-दिल्ली, प्रथम संस्करण-1963, पृष्ठ-89

12-'मानवमूल्य-परक शब्दावली का विश्वकोश'(तीसरा खंड), संपादक-धर्मपाल मैनी, प्रकाशक-स्वरूप एंड संस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृष्ठ-1287

13-'आधुनिक हिंदी साहित्य'-सच्चिदानंद वात्सायन, प्रकाशक-राजपाल एंड संस-दिल्ली, प्रथम संस्करण-1976, पृष्ठ-233
14-'भारतीयता की पहचान'-विद्यानिवास मिश्र,वाणी प्रकाशन, पृष्ठ-120
15-कुबेरनाथ राय-विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृष्ठ-22
16-कुबेरनाथ राय रचना-संचयन-चयन एवं संपादन-हनुमानप्रसाद शुक्ल, पृष्ठ-59(जंबूद्वीपे-भरतखंडे-निबंध से)
17-वही, पृष्ठ-63-64
18-वही, पृष्ठ-65
19-वही, पृष्ठ-68
20-वही, पृष्ठ-68
21-कुबेरनाथ राय रचना-संचयन-चयन एवं संपादन-हनुमानप्रसाद शुक्ल, भूमिका से पृष्ठ 20
22-कुबेरनाथ राय-विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृष्ठ-28
23-कुबेरनाथ राय रचना-संचयन-चयन एवं संपादन-हनुमानप्रसाद शुक्ल, भूमिका से, पृष्ठ-20
24-कुबेरनाथ राय-विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृष्ठ-62
25-कुबेरनाथ राय रचना-संचयन-चयन एवं संपादन-हनुमानप्रसाद शुक्ल, भूमिका से, पृष्ठ-21
26-कुबेरनाथ राय रचना-संचयन-चयन एवं संपादन-हनुमानप्रसाद शुक्ल, जंबूद्वीपे-भरतखंडे, पृष्ठ-68
27-कुबेरनाथ राय रचना-संचयन-चयन एवं संपादन-हनुमानप्रसाद शुक्ल, पृष्ठ-69
28-वही, पृष्ठ-74
29-वही, पृष्ठ-75
30-वही, पृष्ठ-83
31-वही, पृष्ठ-93
32-वही, पृष्ठ-98
33-वही, पृष्ठ-124
34-वही, पृष्ठ-130
35-वही, पृष्ठ-132
36-वही, पृष्ठ-177
37-वही, पृष्ठ-232-233
38-वही, पृष्ठ-233
39-वही, पृष्ठ-233
40-वही, पृष्ठ-233
41-वही, पृष्ठ-316
42-वही, पृष्ठ-316-317
43-वही, पृष्ठ- 317
44-वही, पृष्ठ-5, भूमिका से
45-वही, पृष्ठ- 16
46-वही, पृष्ठ-17-18
47-वही, पृष्ठ- 20

कुबेरनाथ राय की दृष्टि में तुलसीदास और रामचरितमानस

● आदित्य कुमार गिरि

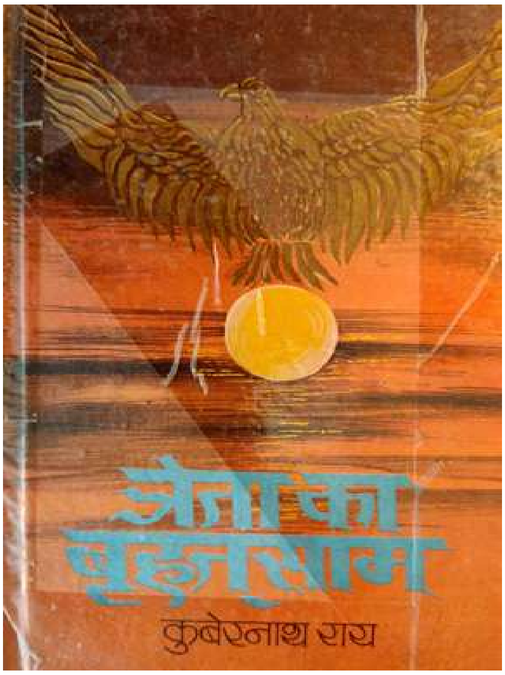

‘मध्यकालीन साहित्यिक विमर्श मूलतः सांस्कृतिक विमर्श है। इसका सत्ता के चरित्र के साथ गहरा संबंध है। यह शुद्ध साहित्यिक विमर्श नहीं है। हिंदी आलोचना ने मध्यकालीन साहित्य को सामाजिक प्रक्रिया से जोड़कर देखा और मध्यकालीन भक्ति साहित्य को धार्मिकता के चंगुल से मुक्त किया। मध्यकालीन साहित्य की सामान्य विशेषता यह है कि इसमें व्यक्ति के भावों और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए गंभीर संकट पैदा हो गया था। सामाजिक जीवन में गतिरोध आ गया था। नई और पुरानी व्यवस्था के बीच टकराहट बढ़ गई थी। समाज में एक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का था जो पुराने को बचाए रखना चाहता था जबकि पुरानी व्यवस्था सामाजिक लक्ष्यों को हासिल करने में मददगार साबित नहीं हो रही थी। पुरानी व्यवस्था के पक्षधरों ने प्राचीन मान्यताओं और मूल्यों की रक्षा के लिए पुराणों, स्मृतियों और शास्त्रों की तरह-तरह से व्याख्याएँ कीं और समाज में भाष्य और टीकाओं की बाढ़ आ गई। इनके माध्यम से पुराने को सामयिक बनाने का प्रयास किया गया। इस तरह के प्रयासों का मूल लक्ष्य था कि किसी तरह अतीत को पुनरुज्जीवित किया जाए और ह्रासशील धर्म में प्राणवायु फूँकी जाए।’’[1]

आधुनिककाल में मध्यकाल पर हुई तमाम बातें उपर्युक्त कथन के आलोक में ही चिह्नित हो सकती हैं। मध्यकाल की तमाम बहसें उसकी अवस्थिति की साम्प्रदायिक और प्रगतिशील व्याख्या की हैं। एक वर्ग उसका पुरातनपंथी रूप स्थिर करना चाहता है तो दूसरा उसके भीतर के जीवन

और लोक की तलाश करता है। एक वर्ग उसके साम्प्रदायिक रूप के कारण उसके रिजेक्शन का पाठ तलाश रहा है तो कई उसके पॉजिटिव की स्थापना में भविष्य को खोज रहा है। इसी क्रम में तुलसीदास सबसे अधिक चर्चित और विवादित रहे हैं। उनकी रिजेक्शन, पूजा और महत्ता की तलाश में आलोचना की कई-कई सरणियाँ बनीं और बिगड़ीं, कुछ ने उनके लेखन को धार्मिक कहा, कुछ ने सामाजिक कुछ ने जातिवादी-पुंसवादी तो किसी ने केवल साहित्यिक महत्ता की बात की लेकिन आलोचनाजगत में एक बड़ा वर्ग ऐसा भी हुआ जो तुलसी के लोकवादी रूप को महत्त्व देते हुए आधुनिक समाज के लिए उन्हें सबसे उपयुक्त सबसे सटीक पाता है कुबेरनाथ राय ऐसे ही लोगों में स्थान रखते हैं।

कुबेरनाथ राय एक ललित निबंधकार हैं और ललित निबंध की कुछ सीमाएँ होती हैं, कुछ तरीके होते हैं, कुछ शैलियाँ होती हैं। यह शास्त्रीय निबंधों से बिल्कुल भिन्न और अलहदा होते हैं। इनके कथन का शिल्प बेहद आत्मीय और अनुभव आधारित होता है जिसमें शास्त्रीय लेखों सी रीति नहीं होती, शोधात्मक लेखों से उद्धरण नहीं होते। कुबेरनाथ राय के तुलसी पर लिखे लेखों को भी ऐसे ही देखना चाहिए क्योंकि यदि यह दृष्टि न रखी गई तो अध्ययन में दिक्कतें आ सकती हैं।

कुबेरनाथ राय ने अपने निबंध 'युग संदर्भ में मानस' में तुलसीदास पर इसी शिल्प में अपनी बात रखी है इसलिए कहीं-कहीं वे एक पक्षीय और तथ्यहीन भी लगे हैं और अपने आग्रहों को थोपते और वस्तुनिष्ठता रहित भी। विरोधियों पर आक्षेप करते हुए बिना किसी साक्ष्य के अनर्गल आरोप लगाते भी दिखे हैं और लेकिन उन्हीं आरोपों को खारिज़ करते हुए भी उन्हीं के दबाव में फैसले लेते हुए भी, क्योंकि जिन बातों के लिए वे डिफ़ेंस तैयार कर रहे हैं उन्हीं को मानस से हटाने की वकालत करते हैं। यह एक लिजलिजी आलोचना दृष्टि है क्योंकि इसमें तुलसी साहित्य पर समालोचना या आलोचना की जगह कैसे भी उन्हें बड़ा बताने का आग्रह ज़्यादा दिख रहा है। ऐसा लगता है कि उनकी कोशिश तुलसी साहित्य की समीक्षा न होकर येनकेनप्रकारेण उनका डिफ़ेंस है तभी वे मानस से विरोधियों द्वारा निंदित पंक्तियों को संपादित कर हटाने का सुझाव देते हैं। कुबेरनाथ राय का निबंधकार मन आलोचना के साधारण नियमों के भी परे चला जाता है उनकी समझ में यह एक नैतिक कार्य है जबकि आलोचना जगत में इससे अनैतिक कुछ हो ही नहीं सकता। एक रचनाकार अपनी समग्रता में समाज के सामने आना चाहिए, उसके संशोधित रूपों को सामने रखना एक बौद्धिक धूर्तता है और कुबेरनाथ का निबंधकार मन इस बात को समझ न सका। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे तुलसी विरोधियों को खारिज़ करते हैं लेकिन उन्हीं की लाइन पर सोचते हुए तुलसी में संशोधनों और प्रगतीशीलता की खोज़ भी करते हैं।

कहने का आशय है कि पाठक के मन में अध्ययन के क्रम में जो उपर्युक्त दिक्कतें आती हैं वह विषय और विधा में तालमेल की कमी के कारण ही है। कुबेरनाथ राय ने निबंध के

लिए जिस शास्त्रीय विषय का चुनाव किया है वह जिस विधा की माँग करता है वे उसे अपना न सके और उसे ललित निबंध के दायरे में फ्रेम करते हैं जिस कारण ऐसा भ्रम होता है लेकिन जैसा कि कुबेरनाथ राय ने तुलसी के आलोचकों की नकारात्मक वृत्तियों को खारिज़ कर पॉजिटिव की तलाश की वकालत करते हैं हमें भी उनके निबंध के पॉजिटिव पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए इस लिहाज़ से प्रस्तुत निबंध बेहद महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

कुबेरनाथ राय ने तुलसीदास पर लिखी आलोचनाओं को श्रेणीबद्ध कर यह पाया कि विधायक लेखन के इतर भी एक दृष्टि है जो बड़े पैमाने पर हिन्दी आलोचना में बद्धमूल है। और इसी दृष्टि ने तुलसी के लेखन के प्रति अहोभाव की मृत्यु की है। इस दृष्टि ने तुलसी के साहित्य के प्रति एक संदेह, एक रिजेक्शन की सृष्टि की है जिसने न सिर्फ तुलसी बल्कि साहित्य को भी अपूरणीय क्षति पहुँचाई है। इस दृष्टि का आग्रह तुलसीदास के साहित्य के प्रति नकार का है। इस दृष्टि के मूल में जो आग्रह है वह तुलसी को दोयम दर्ज़े के साहित्यकार के रूप में देखने का है। वह लेकिन तुलसी साहित्य के प्रति समग्रता का भाव नहीं रखता उसका मूल उद्देश्य मानो ऐनकेन प्रकारेण तुलसी को ग़लत साबित करने का है। एक इतने बड़े साहित्यकार जिसके रचनात्मक अवदान ने पूरे उत्तर भारत में सभ्यता निर्मित किया हो, संस्कृति निर्माण का भगीरथ काम किया हो उसके साहित्य पर लिखी आलोचना के मूल में उसका समूचा साहित्य नहीं है बल्कि अवांतर प्रसंगों के संग्रह से थीसिस निर्माण की कोशिश है। यह दृष्टि किसी रचनाकार की रचना की रीडिंग के अनन्तर राय नहीं देती बल्कि पहले से ही एक समझ के साथ रचना के पास जाती है और ऐसी सूरत में जो होना चाहिए वही होता है अर्थात रचना और रचनाकार को हर तरह से हेय और रिजेक्टेबल बताने की अवस्थिति। तुलसीदास के आलोचकों ने भी एकदम हूबहू यही किया है। कुबेरनाथ राय ने ऐसे आलोचकों और उनकी ऐसी आलोचना दृष्टि को निषेधमूलक कहा है। उनके निषेधमूलक दृष्टि की मूल कोशिश तुलसी के प्रति रिजेक्शन में है।

इसी के अनन्तर उन्होंने तुलसी के प्रति रिजेक्शन रखनेवाली आलोचना सरणी के दो प्रकार बताए हैं। पहली श्रेणी, नास्तिवादियों और निहिलिस्टों की है तो दूसरी, वामपंथी और वह भी विशेषकर नव-वामपंथी आलोचकों की।

कुबेरनाथ राय रिजेक्शन की इस मन:स्थिति के विरोधी हैं। उन्हें लगता है कि यह विरोध, विरोध के लिए है क्योंकि इसका सम्पूर्ण आग्रह इसी पर केंद्रित है। वे इसी के अनंतर एक बड़ी दृष्टि से इस बहस को तुलसी के भी ऊपर ले जाने की वकालत करते हैं क्योंकि उनका मानना है कि विरोधी सिर्फ तुलसी का ही नहीं हर सकारात्मक साहित्यकार का विरोध हैं। वे देखते हैं कि नकारवादियों के लिए हर विधायक दृष्टि हेय है। वे अपने अतिरिक्त हर प्रयास को दूषित और प्रतिक्रियावादी मानते हैं लेकिन असल में किसी अज्ञेय कुंठित स्वप्न को मन में लिए दूसरों को प्रतिक्रियावादी कहते-कहते ये खुद ही कब

प्रतिक्रिया हो जाते हैं इन्हें खुद नहीं पता होता। इन्हें अंत तक लगता रहता है कि दुनिया का हर विधायक असल में एक कमज़ोर और लिजलिजि निर्मिति है और इनके पास कोई नया और क्रांतिकारी विचार है। कुबेरनाथ राय नास्तिवादियों की मूल प्रवृत्ति पर बहस करना चाहते हैं। वे जानते हैं कि तुलसी विरोध का उनका आधार फुसफुसा और कमज़ोर है लेकिन फिर भी वे उन प्रयासों के स्रोतों की व्यर्थता पर चोट करते हैं क्योंकि जिस दृष्टि ने आलोचना जगत में इतना बड़ा स्पेस घेर रखा हो उसे ऐसे ही जाने देना मूर्खता है। उनकी आलोचनाओं ने जिस आधार को निर्मित किया है उस आधार को यह बताना ज़रूरी है कि इस दृष्टि के पास समाज के लिए कोई विधायक अवधारणा नहीं है बल्कि इसका मूल मंत्र सिर्फ विरोध के लिए विरोध है। इसलिए यह तुलसी ही नहीं किसी भी सृजनशील रचनाकार में पॉज़ीटिव की तलाश की जगह नकारात्मकता की खोज कर उसे नकारने की मन:स्थिति में होता है।

कुबेरनाथ राय की दृष्टि में यह नकार एक घातक अप्रोच है क्योंकि तुलसी हों या कबीर या शेक्सपीयर या रवींद्रनाथ, समाज विधायक दृष्टि से बनता है और जिस दृष्टि की नज़र में अब तक का उपलब्ध हर ज्ञान, हर वस्तु, हर यात्रा बेकार है, हेय है, पिछड़ा और पीछे ले जानेवाला है वह कम-से-कम समाज निर्माण में सहायक नहीं हो सकता। समाज को निर्माण वाली दृष्टि चाहिए। वह आलोचना की विधायक दृष्टि की माँग करते हैं और ऐसी दृष्टि ही स्वस्थ और समृद्ध समाज के निर्माण में सहायक हो सकती है। इसलिए वे तुलसी आलोचकों की इस श्रेणी को हर तरह से रिजेक्टेबल मानते हैं क्योंकि इस दृष्टि के पास आलोचना की न स्वस्थ दृष्टि है और न स्वस्थ मन:स्थिति।

असल में जब व्यक्ति नकार में होता है तब वह हर तरह के विधायक के प्रति आँखें मूँद लेता है। इस वर्ग में अज्ञात आदर्श की तलाश का ऐसा जुनून है कि वह उपलब्ध हर सृजन को संदेह से देखते हुए रिजेक्ट कर देता है। उसका मानस एक ऐसे सत्य की कल्पना करता है जो पूर्णत: निर्दोष होगा लेकिन चूँकि वह नकारवादी है इसलिए कुछ करने की जगह किए से ही असंतोष प्रकट कर अपनी मंशाओं को तुष्ट करता है। उसकी मंशाएँ समय के साथ कुंठाओं में परिवर्तित हो जाती हैं और इन्हीं कुंठाओं के कारण उसकी नज़र में हर उपलब्ध, हर सृजित सृजन रिजेक्टेबल हो जाता है।

असल में सृजन के मानसिक मानक अपनी निष्क्रियता के कारण केवल समस्याएँ देखने के आदी हो जाते हैं उसका मन ऐसा दूषित हो जाता है कि वह प्रकाश से प्रकाशित होने की जगह यह प्रकाश खराब है, या यह प्रकाश ही नहीं है या यह प्रकाश कई लोगों के लिए अँधेरा है या इस प्रकाश की पूँछ है आदि आदि पंक्तियों के सहारे रिजेक्शन को धर्म की तरह देखने लगता है। और इस तरह निर्माण की जगह कुंठित ध्वसांत्मक मन:स्थिति का निर्माण होता है।

कुबेरनाथ राय भी ऐसे असंतुष्टों को वैचारिक रूप से डिकोड करते हुए उनकी वैचारिक प्रतिबद्धताओं के मूल की तलाश करते हैं। उनकी दृष्टि में नास्तिवादी तुलसी को साम्प्रदायिक

कारणों से रिजेक्ट करते हैं। उनकी लड़ाई पुरानी है। वे रामचरितमानस के बहाने असल में वेदांत और आत्मा की अवधारणा के प्रति असहमति दर्ज करते हैं और अपनी अनात्मवाद की थ्योरी को सर्वसिद्ध करना चाहते हैं जबकि दिक्कत यह है कि इस नकार में वे अपने से इतर सोच रखनेवाले की हर विधायक प्रवृत्ति के प्रति असहिष्णु हो जाते हैं।

कुबेरनाथ राय नास्तिवादियों द्वारा किए विरोध की जड़ में विचार या प्रत्यय को मुख्य पाते हैं। वे काशी विश्वविद्यालय में 'रामचरितमानस' पर हुई विचारगोष्ठी के बहाने कहते हैं- 'उसमें युवा पीढ़ी का सारा रोष और तर्क मानस पर इसलिए था कि यह भाववादी रचना है। भाववाद या प्रत्ययवाद का चरम रूप है वेदांत। मानस निश्चय ही मूलत: वेदांती रचना है। और जो वर्ग यह मानकर चलता है कि भाव-प्रत्यय या आइडिया पर आधारित मानव-समाज का इतिहास, जो गत छह हज़ार वर्षों से विकसित होता आ रहा है, आज सम्पूर्ण सम्पृक्त एवं परिपक्व होकर विघटन की अवस्था में है और कल या परसों से भाव या प्रत्यय के स्थान पर जड़ या शुद्ध भौतिकता पर आधारित होकर शुरू होनेवाला है तथा जिसका दृढ़विश्वास है कि प्रत्यय या आइडिया पर आधारित इतिहास की यह गोधूलि बेला है, वह मानस क्या, किसी भी प्राचीन अर्वाचीन वाङ्मय को क्यों और कैसे अपनी श्रद्धा दे सकेगा? ये तो मनुष्य के इतिहास की सम्पूर्ण उपलब्धि से क्योंकि आज तक की सारी उपलब्धियों का आधार रहा है भाव और प्रत्यय, यहाँ तक कि क्लासिकल मार्क्सवाद का भी- अपने को विच्छिन्न कर चुके हैं और इतिहास को यथासंभव छिन्नमूल करके कहीं पर बिल्कुल नयी माटी में आरोपित करना चाहते हैं। ये सद्यानुभूति के सिवा अन्य किसी भी आइडिया या प्रत्यय अथवा सामन्यीकरण में विश्वास नहीं करते, इनका भौतिकवाद भी सिर्फ सद्यानुभूतियों का भौतिकवाद है और इस नव्य भौतिकवाद में मार्क्स आदि वामपंथी भौतिकवादियों के प्रतिकूल- किसी सामान्यीकरण या अनुमान-प्रमाण या आप्त प्रमाण या का स्थान नहीं अत: इनका विश्वास किसी यूटोपिया में भी नहीं। ये इतने मतांध हो चुके हैं कि अपने चारों ओर पग-प्रतिपग प्रत्यय या आइडिया की अनिवार्य आवश्यकता का अनुभव नहीं कर पाते। स्पष्ट है कि ऐसा युवावर्ग मानस को जो एक भाववादी या प्रत्ययवादी यूटोपिया है, प्रशंसित करना तो दूर रहा, समझ ही नहीं सकता।''[2]

इस लंबे उद्धरण से नास्तिवादियों की मूल प्रस्थापनाओं और असहमतियों को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि जगत को बिना किसी विचार या प्रत्यय के कल्पना करनेवाली विचारसरणी असल में उपलब्ध के प्रति आँखें मूँदकर खड़ी है। वह यह नहीं देख रही कि जगत का सारा व्यापार एक विचार या भाव पर ही टिका हुआ है। यहाँ तक कि यह आलोचनासरणी जिस प्रेरणा से आलोचना कर रही है वह भी एक विचार, एक यूटोपिया ही है। कुल मिलाकर वे कहना यह चाह रहे हैं कि आत्म और अनात्मवाद की वैचारिक लड़ाई ने तुलसीदास और जगत के सत्य को स्वीकारने के प्रति एक झिझक को जन्म दिया है। वे अपनी मूल विचारसरणी के आदर्शों के तहत बस वैचारिक

रूप से आगे बढ़ रहे हैं जबकि उस विचार के बाहर एक बड़ी और साँस लेती दुनिया है जिसके अपने ही नियम हैं, अपनी ही आवश्यकताएँ हैं। उस दुनिया में तमाम आशा-आकांक्षाएँ हैं, स्वप्न हैं, सुख-दु:ख हैं, जीवन-मरण है, प्रेम है, घृणा है, आदर्श है, व्यवहार है, जीवन है, आशा है, निराशा है और रामचरितमानस असल में ऐसे ही जगत का जीता जागता चित्र है। यह ग्रंथ मानव मन और उसके व्यापार का प्रतिबिंब तो है ही लेकिन साथ ही इस जगत के तमाम व्यापारों के लिए एक आदर्श रूपक और उद्देश्य भी है। इस ग्रंथ ने जीवन के चित्र उकेरे हैं तो आदर्श जीवन के रूपक भी गढ़े हैं। इस ग्रंथ ने घटित को चित्रित किया है तो प्राप्य के सूत्र भी दिए हैं, इस ग्रंथ ने जगत के दुखों को प्रकट किया है तो सुखों की ओर जाने के सूत्र भी दिए हैं। जो विचारसरणी जीवन से मुँह मोड़कर बैठी हो वही असल में रामचरितमानस को हेय या रिजेक्शन की वस्तु समझेगी।

जड़ और चेतन की लड़ाई में जड़ को विजयी होते देखने की कामना वाले व्यावहारिक तो कतई नहीं हैं। जड़ या भौतिक जीवन किसी-न-किसी आदर्श पर टिका हो तभी जीवित रह सकता है। वस्तुओं को सत्य समझने वाला समाज ज्यादा दिनों तक जीवित नहीं रह सकता। असल में यह संभव भी नहीं। जिन समाजों को अपने भौतिक या वस्तुवादी होने का भ्रम है असल में वे भी किसी-न-किसी विचार को गहरे में लिए हुए होते हैं। कुबेरनाथ राय मार्क्सवाद को भी एक विचार या यूटोपिया इसी अर्थ में कहते हैं।

नास्तिकता और आस्तिकता की इस लड़ाई में जगत के लिए आस्तिकता ही ज़रूरी है आस्तिकता या विचार या प्रत्यय या चेतन ही संसार की गतिशीलता में सहायक कारक है जबकि नास्तिकता या जड़वाद एक ऐसी मानसिक विलासिता है जिसका जीवन बहुत संकुचित समय के लिए ही अस्तित्व में आता है। यह जो सभ्यता की यात्रा में समय-समय पर संसार के खत्म होने या तमाम आदर्शों की मृत्यु की घोषणाएँ होती रहती हैं वह असल में जड़वाद के अतिरेक के बाद की उपजी स्थितियाँ ही होती हैं। तो जिसे जड़वाद का परिणाम कहना चाहिए उसे आदर्शों की मृत्यु के रूप में देखा जाता है। हालाँकि ऐसी सूरत में भी समाज फिर किसी बड़े स्वप्न या आदर्श पर ही खड़ा होता है वरना अगर मृत्यु की घोषणाएँ सही होतीं तो अबतक जगत को खतम हो जाना चाहिए था लेकिन वह आज भी बदस्तूर चलता आ रहा है और आगे भी चलता ही रहेगा।

रामचरितमानस ऐसा ही एक भाववादी/ प्रत्ययवादी यूटोपिया है जिसके पास समाज के लिए जीवन है, आदर्श है, स्वप्न है, विचार है। असल में नववाम ने इतिहास और परंपरा और उसकी उपलब्धियों से खुद को विच्छिन्न कर लिया है। यह विचारसरणी एकदम अभी 'इमिजिएट एक्सपीरिंएस' के सिवा अन्य किसी भी आइडिया या प्रत्यय या सामन्यीकरण में विश्वास नहीं करती। इसका भौतिकवाद सद्यानुभूति का ही भौतिकवाद है। उसे हर कुछ त्वरित, एकदम अभी चाहिए। वह जीवन को स्विच दबाने से पंखा चल जाए, की तरह देखती है।

उसे यह नहीं पता कि जीवन एक अन्य चीज़ है जिसमें बहुत से विधायक कारक मिलकर उसका निर्माण करते हैं और साहित्य तो वैसे भी प्रच्छन्न रूप से काम करता है। जीवन विविधतापूर्ण है जबकि यह विचारसरणी एकपक्षीय है जो जीवन व्यापार को किसी मशीन की तरह देखती है।

कुबेरनाथ राय वामपंथ के तुलसी विरोध के राजनीतिक आयाम की ओर भी इशारा करते हैं। उनका मत है कि राजनीति में वामपंथ का जुड़ाव इस्लामिक तुष्टिकरण के रूप में रूपायित हुआ है जबकि हिंदुत्त्व से उनका एक किस्म का बैर-भाव है। तुलसी विरोध को वे इसी की परिणति मानते हैं चूँकि तुलसी का साहित्य सनातन जीवन दर्शन का हिमायती है इसलिए विरोध की ज़मीन का राजनीतिक आधार निर्मित हुआ है। साहित्य पर लिखते हुए इस तरह के वैचारिक स्टैंड लेना कुबेरनाथ की एक ऐसी छवि बनाता है जो चौंकाता है। जिससे एक बड़े वर्ग को असहमति हो सकती है।

इस निबंध के दूसरे हिस्से में वे तुलसीदास और रामचरितमानस के पॉजिटिव पर ध्यान केन्द्रित करते हैं और निषेधवादी आलोचनाओं के इतर एक विधायक पाठ की तलाश करते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि तुलसी और उनकी दृष्टि किसी भी समाज की निर्मिति में विचार या आदर्श या यूटोपिया है जिसके बिना कोई समाज टिक नहीं सकता। नास्तिवादियों के विरोध की मूल प्रस्थापना को ही वे तुलसी की मूल विशेषता बताते हैं और उनकी पूरी दृष्टि उसी को विस्तार से दिखाने में प्रयासरत है।।

तुलसीदास के रामचरितमानस पर बात करने के क्रम में वे चार महत्त्वपूर्ण दिशाओं की ओर संकेत करते हैं। उनका कहना है कि मानस को इन्हीं चार बिंदुओं पर देखने से अभीष्ट फल की प्राप्ति हो सकती है।

1. परंपरा का स्वीकार्य
2. रामचरितमानस की मूल थीसिस के प्रति स्वीकार्य भाव
3. भक्ति के मूल रूप की समझ और
4. राम के शीलत्व के बहाने मूल्यों की स्थापना के प्रयास के प्रति स्वीकार्य

कुबेरनाथ राय तुलसी विरोधियों की दृष्टि पर बात करते समय जिस मूल प्रवृत्ति की ओर इशारा करते हैं वह यही है कि वे परंपरा के प्रति अस्वीकार्य से भरे हुए हैं। उनका हर उपलब्ध के प्रति यही रवैया है जबकि सत्य यह है कि हर नया, उपलब्ध की ही अगली कड़ी होता है। तो उनका कहना है कि जो विचारसरणी उपलब्ध के प्रति, नकार में हो, परंपरा के प्रति सदाशय न हो, वह कभी निर्माण नहीं कर सकती।

दूसरी चिंता और भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसी के अनंतर वे कहते हैं कि मानस विरोधियों ने मानस के विरोध के लिए मूल थीसिस की अवहेलना की है और ग्रंथ में अवातंर प्रसंगों को तूल देकर अपनी स्थापनाओं को ज़मीन दी है। वे अवांतर और युग सापेक्ष प्रसंग हैं जिनका जिक्र प्रसंगवश और युग के सत्य को प्रकट करने के अर्थ में हुआ है लेकिन मानस के विरोधी उसे ही मूल थीसिस बताकर अपनी आलोचना के केंद्र में रखते हैं। यह करके वे मानस की विशेषताओं

और पॉज़िटिव के प्रति न सिर्फ अनादर बल्कि उसके प्रभाव की संभावनाओं की ओर से मुँह भी मोड़ रहे होते हैं और उसकी हत्या भी कर रहे होते हैं। किसी रचना के मूल आधार पर बात न कर प्रसंग वश आए कथनों पर पूरी आलोचना को केंद्रित करना एक किस्म की धूर्तता है जिसे कुबेरनाथ राय पाखंड मानते हैं।

हालांकि कुबेरनाथ राय की इस कोशिश को एक मासूम कोशिश कहा जा सकता है क्योंकि प्रति आलोचना में कहा जा सकता है कि रचना के अवांतर प्रसंगों पर बात क्यों नहीं की जा सकती और वे प्रसंग अवांतर ही हैं लेकिन मूल कथा के बर्ताव में हैं और दूध में नमक बराबर असर रखते हैं। आखिर कुबेरनाथ राय इस सत्य या तथ्य से जी क्यों चुराते हैं। एक वस्तुनिष्ठ आलोचक उपलब्ध से ध्यान हटाने की कोशिश नहीं करता और न ही उसे शुतुर्मुर्गी प्रयासों से डिफेंड करने की नाकाम कोशिश ही करता है। तुलसी अपनी संपूर्णता में ही देखे और सुने जा सकते हैं। उनके विरोध या स्वीकार्य में काटछाँट की नीति ठीक नहीं कही जा सकती और सबसे बड़ी बात यह है कि वे आलोचनाओं को निंदा या नकार में ही क्यों देख रहे हैं, क्या स्वस्थ साहित्यिक परिवेश केवल हाँ-हाँ से निर्मित हो सकता है? क्या बिना आलोचना और कमियों के चिह्नीकरण के कोई भी क्लासिक रचना निर्मित हो सकती है? याद रहे रचनाएँ सिर्फ अपने लेखन में ही नहीं पठन और अध्ययन में भी क्लासिक होती हैं और कुबेरनाथ राय तुलसी के अध्ययन को अपनी नैतिक या डरवादी दृष्टि से सीमित करना चाहते हैं जो न ही तुलसी के लिए ठीक है और न ही आलोचना के लिए।

बहरहाल वे अपनी प्रस्थापनाओं में आगे बढ़ते हुए आगे कहते हैं कि रामचरितमानस की मूल थीसिस वर्णाश्रम का प्रतिपादन नहीं है। मानस क्षत्रिय धर्म या ब्राह्मण धर्म का प्रतिपादन नहीं करता बल्कि उसका मूल प्रतिपाद्य भक्ति और जाति-धर्म-निरपेक्ष आस्तिक मानववाद है।[3] रामत्व की अभिव्यक्ति तथा उसके माध्यम से शीलाचार और भक्ति की व्यक्ति-दर-व्यक्ति प्रशिक्षण देना ही इसका मूल उद्देश्य है। भारतीय संस्कृति में भक्ति की अवधारणा पर बात करते हुए मूल रूप से इसे आत्मवादी कहा गया है। यहाँ भक्ति को वैयक्तिक उत्थान का मुख्य कारक माना जाता है। आत्मा और प्रकारांतर से व्यक्ति की स्वतंत्रता को स्वीकारते हुए भारत में भक्ति असल में शुद्ध आत्मिक अनुभव है लेकिन इस अनुभव से धनी व्यक्ति समाज और समूह के लिए सबसे ज़्यादा ग्राह्य और स्वीकार्य हो जाता है क्योंकि समाज की पहली इकाई व्यक्ति ही है और व्यक्ति का आत्मिक उत्थान अंत में समाज का ही उत्थान है क्योंकि स्वस्थ व्यक्तियों से ही एक स्वस्थ समाज का निर्माण होता है।

तुलसी का रामचरितमानस इसी श्रेणी की रचना है जो व्यक्ति के निजी भावों को प्रशिक्षित करती है और ऐसे ही वह निरुजता और समृद्धि के प्रभाव को समाए हुए है।

कुबेरनाथ राय रामचरितमानस में वर्णित भक्ति के दोहरी भूमिका और उसके प्रभावों की भी चर्चा करते हैं। वे कहते हैं मानस की भक्ति

वैयक्तिक स्तर पर समर्पण और समूहगत स्तर पर जातिवर्ण निरपेक्ष आस्तिक मानववाद के रूप में अवस्थित है। कुबेरनाथ राय ने तुलसी के साहित्य की आलोचना का एक और मजेदार पक्ष सामने रखा है जिसमें उनके समर्थक कहे जानेवाली सरणी की चर्चा है। ये ऐसे समर्थक हैं जिन्होंने विरोधियों की ही तरह मानस की क्षति की है असल में उनकी कुव्याख्याओं ने मानस को पुरोहितवाद का केंद्र बना दिया है जबकि असल में ऐसा है नहीं। तुलसी का किसी भी पुरोहितवाद से कोई संबंध नहीं था। असल में यह भी एक त्रासदी ही है जिसमें जीवित तुलसी को ब्राह्मण धर्म का विरोधी बताकर यातनाएँ दी गईं और मृत तुलसी के साहित्य को उसी का सबसे बड़ा संबल बताकर प्रतिनिधि की तरह स्थिर कर दिया जाए। असल में तुलसीदास ने मानस के बहाने समाज में उच्छृखंलता और संत्रास के बरअक्स एक ऐसा संबल दिया है जो यूँ तो वैयक्तिक स्तर पर काम करता है लेकिन जिसका प्रभाव समाजगत होता है।

तुलसी पर विचार व्यक्त करते हुए कुबेरनाथ राय आचार्य शुक्ल के आलोचनाबोध से सहमत होते दिखते हैं जिसमें वे तुलसी को लोकमंगल का रचनाकार मानते हैं तथा भक्तिकाल को मुसलमानों के आक्रमण की प्रतिक्रिया स्वीकारते हैं।[4] लेकिन शुक्ल जी के मत को आगे बढ़ाते हुए वे लोकतत्व पर अधिक बल देने से व्यक्ति तत्व के महत्त्व पर खतरा देखते हैं और इसी के अनन्तर वे धर्म और भक्ति के व्यक्ति-दर-व्यक्ति प्रभाव की बात की है तथा तुलसी को इसका प्रणेता।[5]

कुबेरनाथ राय लेख के तीसरे हिस्से में तुलसी साहित्य के मनोवैज्ञानिक पक्ष की ओर इशारा कर रहे हैं। वे तुलसी के साहित्य को साधारण छंदों या अलंकारों की बाजीगरी से अलग जीवन और भावों के आश्रय के रूप में देख रहे हैं। वे साहित्य के मनोवैज्ञानिक पाठ पर बात करते हुए उसकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता पर ज़ोर देते हैं। वे मनुष्य की इसी अवस्थिति पर साहित्य को कसकर तुलसी साहित्य को ऐसे ही परखते हैं।

वे कहते हैं कि मनुष्य अपार शक्तियों का भंडार है। ये शक्तियाँ सृजन में न लगीं तो उससे विनाश होने लगता है। मनोविज्ञान कहता है कि मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु उसका अहं है और यह अहं ही उसे शांत नहीं बैठने देता तो असल में ईश्वर की अवधारणा मनुष्य के आत्म का अर्पण है। वह न हो तो मनुष्य विध्वसंक हो सकता है। उसका मन किसी न किसी शक्ति के आगे अर्पण करेगा ही ईश्वर के आगे अर्पण इसलिए ठीक है क्योंकि धर्म की उदात्त परिभाषा यही कहती है कि ईश्वर मनुष्य का स्व ही है। कार्ल मार्क्स की भाषा में कहें तो मनुष्य जाति का जो भी कुछ उपलब्ध है वह सभी धर्म में संग्रहित है।

'हेगल के विधिदर्शन की आलोचना में योगदान' निबंध में मार्क्स ने धर्म के संबंध में दो मुख्य बातें कही हैं। पहली यह कि धर्म जिस काल्पनिक संसार की रचना करता है, वह इसी वास्तविक संसार की प्रतिच्छवि है, दूसरी यह कि धर्म में जिस व्यथा का चित्रण है, वह वास्तविक है और इस व्यथा के प्रति धर्म में विरोध प्रदर्शन भी होता है।

उसी लेख में मार्क्स आगे लिखते हैं-'धर्म का

निर्माण मनुष्य करता है, मनुष्य का निर्माण धर्म नहीं करता। धर्म उस मनुष्य की आत्मचेतना, उसके आत्मसम्मान का भाव है जिसने स्वयं को पाया है या पाकर उसे फिर खो चुका है। किंतु मनुष्य इस संसार से बाहर रहनेवाला कोई अमूर्त जीव नहीं है। मनुष्य समाज का, राज्यसत्ता का और मनुष्य का संसार है। यह राज्यसत्ता, यह समाज, धर्म का, प्रत्यावर्तित विश्वचेतना का निर्माण करते हैं। कारण यह कि वे(राज्यसत्ता और समाज) एक प्रत्यावर्तित संसार है। उस संसार के बारे में जो सामान्य सिद्धांत है, वह धर्म है, वह (धर्म) उसका (संसार) विश्वकोशीय संग्रह है, लोकसुलभ रूप में उसकी तर्कसंगति है, उसकी आध्यात्मिक आन, उसका उत्साह, उसका नीतिशास्त्र, उसका गंभीरपूरक, उसे न्यायसंगत ठहराने और सान्त्वना पाने का विश्वव्यापी स्रोत है। वह मानवीय तत्त्व का काल्पनिक साक्षात्कार है क्योंकि मानवीय तत्त्व की कोई सच्ची वास्तविकता नहीं है। अत: धर्म के विरुद्ध संघर्ष अप्रत्यक्ष रूप से उस संसार के विरुद्ध संघर्ष है जिसकी आध्यात्मिक सुवास धर्म है।''[6]

रामविलास शर्मा ने मार्क्स के उपर्युक्त कथन की व्याख्या करते हुए कहते हैं 'सामाजिक विकास की एक मंजिल में नीतिशास्त्र, दर्शन, राजनीति, इतिहास, काव्य आदि अलग-अलग विषय नहीं होते हैं, वे सब एक ही लिखित अथवा मौखिक वाङ्मय के अन्तर्गत होते हैं और उन्हें धर्म कहा जाता है। संसार के बारे में मनुष्य जो कुछ सोचता समझता है उसे वह अपने धर्म के विश्वकोश में एकत्र करता जाता है। यदि भाषाविज्ञान से लेकर दर्शनशास्त्र तक मानवजाति के इतिहास को, ज्ञान के विकास को समझने के स्रोत-सामग्री विद्वानों को धर्मग्रंथों में मिली है, तो वह स्वाभाविक है। मनुष्य किसी युग विशेष में, किसी समाज विशेष में रहता है। अत: देशकाल से परे कोई अमूर्त मानवतत्व नहीं है। धर्म जो अतिकल्पना (फैंटेसी) है, वह इस संसार को ही प्रतिबिम्बित करता है, किन्तु वह संसार को प्रत्यावर्तित रूप में दिखाती है, वह जैसा है, वैसा नहीं दिखाती।''[7]

कहने का आशय है कि कार्ल मार्क्स भी धर्म की विधायक भूमिका की ओर इशारा करते हैं और उसकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता को समझते थे। कुबेरनाथ राय के भी ऐसे ही विचार थे। वे जानते थे कि धर्म की अवधारणा किसी संकुचित आदर्शों पर खड़े दल या समूह से बड़ी और उदात्त है। ऐसे में अगर मनुष्य ईश्वर में अपने को अर्पित करता है तो वह सभ्यता के लिए ठीक होगा बनिस्पत किसी मनुष्य या दल के क्योंकि मानव या दल की संकुचित धारणाएँ हो सकती हैं वैसे में मनुष्य की शक्तियाँ कुंठित होकर समाज का बिगाड़ कर सकती हैं। जर्मनी के दार्शनिक कार्ल यास्पर्स के हवाले से कुबेरनाथ राय कहते हैं- ''आत्मार्पण इस समूह-मन की उसी भाँति और उसी अंश तक स्थायी मानसिक तृषा है जिस भाँति और जिस अंश तक विद्रोह। यदि ईश्वर नहीं रहता है तो भी यह आत्मार्पण तुष्ट होगा ही, परन्तु इसका लक्ष्य होगी कोई हीनतर वस्तु, यथा पार्टी या अधिनायक और उस अवस्था में यह घोर फासिज्म को जन्म देगा। ईश्वर हो या न हो यह और बात है। परन्तु ईश्वर समूह मन

की स्थायी तृषा की एक तुष्टि है और यह अनेक सामूहिक अवदमनों का मानसिक उपचार है। ईश्वर के अभाव में सारा समूह ही या तो घोर आत्मरति से उन्मत्त हो जाएगा, नहीं तो कुंठा के मारे आत्मघात करेगा या मृत्यु के प्रति आसक्त हो उठेगा। ईश्वर कल्पना भी हो तो भी यह सामूहिक मन और व्यक्तिगत मन की निरुजता के लिए नितान्त आवश्यक है।''[8]

कुबेरनाथ राय मनुष्य के संकुचित स्वार्थ से परिचित हैं। वे जानते हैं कि मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों को अगर अस्वस्थ नेतृत्त्व मिल गया तो वह घातक और कुंठित हो सकता है। ''किन्हीं क्षुद्र निहित स्वार्थों पर आधारित दल या अधिनायक के प्रति आत्मार्पण की अपेक्षा एक निर्गुण निराकार अरूप सत्ता ईश्वर के प्रति समर्पण अधिक तर्क संगत और वैज्ञानिक लगता है।''[9]

इसी अर्थ में वे रामचरितमानस को समूह-मन को ध्यान में रखकर रची रचना कहते हैं। मानस उन लोगों के लिए नहीं है जिनका आत्म बिना किसी सहारे के भी तुष्ट हो सकता है। यह रचना तो उन लोगों के लिए संबल है जिनके मानस को ईश्वर या ऐसी ही कोई उदात्त अवधारणा चाहिए होती है। सामूहिक मन बिना किसी बड़े आदर्श या मूल्य के जी नहीं सकता। ऐसा समाज जिसमें विचार य मूल्य न हों वह रुग्ण हो जाता है, तुलसीदास का मानस समाज की इसी आवश्यकता की पूर्ति का प्रयास है।

रवींद्रनाथ ठाकुर की भाषा में कहें तो रामायण गार्हस्थ्य का महाकाव्य है।[10] कुबेरनाथ राय इसे ही मानस की सनातन सामाजिक भूमिका मानते हैं। रामचरितमानस में गार्हस्थ्य जीवन का प्रोजेक्शन मूल है। जब व्यक्ति की स्व के बाहर की भूमिका की बात आती है तब पहली भेंट समाज से होती है और समाज की पहली इकाई परिवार ही है।

इस परिवार को लेकर बदल रहे समाज में जैसी स्वैच्छारिता और काम केंद्रित जीवन शैली विकसित होती जा रही है। उससे समाज संत्रास की ओर बढ़ रहा है। जैसे इस स्वैच्छचारिता में समाज टूटन की ओर बढ़ रहा है। इस स्वैच्छाचारिता ने सेक्स को मूल अधिकार के समझ की तरह विकसित करा दिया है लेकिन दो लोगों की सेक्स आज़ादी में जब कोई तीसरा जन्म लेता है तब उसका जीवन नारकीय हो जाता है। दो व्यक्तियों के आपसी संबंध उनकी इच्छा पर निर्भर करते हैं और यह उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रतता है भी लेकिन शिशु एक सामाजिक इकाई और जिम्मेदारी है। दुनिया में जब तक मनुष्य रहेगा तबतक परिवार की किसी न किसी रूप में जरूरत बनी रहेगी। 'रेडिकल समाज में भी इतना आमूल परिवर्तन होना असंभव है कि पति पत्नी संतान का जिक्र समाप्त हो जाए। उन्नीसवीं शती के बुर्जुआ मन के अवदमन के फलस्वरूप उन्मुक्त सेक्स आचार की कल्पनाएँ समाजवादी चिंता में भी आई थीं परन्तु आज की स्थिति भिन्न है। बर्ट्रेंड रसेल ने कभी maereriage and moerals लिखा था और यौनमुक्ति की वकालत की थी। वही जीवन के अंतिम काल में अपनी आत्मकथा में इस निष्कर्ष पर आता है कि sex is an individual affaier but child is a social peroblem. पति पत्नी को यौनाचार की जैविक तृषा मिटाने की छूट हो सकती

है क्योंकि यह व्यक्तिगत तृषा है परन्तु सन्तान उत्पादन कराने की छूट नहीं, क्योंकि सन्तान सामाजिक समस्या है। सन्तान उत्पादन मात्र तृषातोष नहीं, एक सामाजिक उत्तरदायित्व है।''[11] और मानस गार्हस्थ्य का महाकाव्य है, आदर्श है, विचार है, आधार है। मानस द्वारा प्रणीत समाज जिम्मेदार होगा, वह स्वैच्छाचारिता से उपजे अनैतिक का विलोम है।

कुबेरनाथ राय आगे मानस की पृष्ठभूमि बताते हुए उसे संत्रास की प्रतिक्रिया में अभय प्रदान करनेवाली रचना कहते हैं यानी वे भी आचार्य शुक्ल की बात से सहमत हैं कि भक्ति साहित्य अपने पौरुष से हताश जाति की प्रतिक्रिया थी जैसा कि ऊपर इशारा किया गया है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि नैतिक शीलाचार का विघटन, भारतीय संस्कृति के मौलिक स्वरूप पर खतरा था तथा आंतरिक विघटन भारतीय समाज में व्याप्त था, जिसके प्रतिक्रियास्वरूप मानस की रचना हुई थी और बल्कि देखा जाए तो इन तीन स्थियों की उपस्थिति भारत में मध्यकाल ही की भाँति आज भी है और ऐसे समय में आज भी रामचरितमानस सबसे बड़ा संबल हो सकता है क्योंकि इस पुस्तक ने उस समय भी ऐसे ही वातावरण में गिरते हुए मनोबल को सँभाला था।

कुबेरनाथ राय की दृष्टि में भारतीय संस्कृति वैयक्तिक स्वतंत्रता की हिमायती है। व्यक्ति की आत्मा ही मूल में है लेकिन उनकी दृष्टि में इस्लाम और मार्क्सवाद दोनों ही वैयक्तिक स्वतंत्रता के शत्रु हैं इसलिए वे भारतीयता के भी शत्रु हैं। भारतीय संस्कृति का मौलिक आधार आत्मा की महिमा और पर-मत सहिष्णुता है। भारत की विविधतावादी दृष्टि विरोधी मतों के लिए भी सहिष्णु है उसके लिए विचारों की भिन्नता भेद की वजह नहीं। भारत का बहुलतावाद अपनी भिन्नताओं के प्रति सदाशयता और सहिष्णुता के कारण ही अनेकता में एकता के मंत्र को सिद्ध कर सका है। ''भारतीय संस्कृति के मौलिक शील के अनुरूप पड़ता है गणतंत्र। जो मूलत: आर्य भावधारा की उपज है, जब कि मार्क्सवाद जन्मत: सिमिटिक है और अपने व्यवहारिक रूप में वह स्वभावत: असहिष्णु और अधिनायकतंत्री हो जाता है। आज न केवल भारतीय संदर्भ में ही बल्कि समग्र मानवीय संदर्भ में विश्व-स्तर पर भी एक खतरा एक अन्तरद्वंद्व चालू है जिसमें आत्मवादी मानववाद और अनात्मवादी मानववाद परस्पर संघर्षरत हैं चर्च और कम्युनिज़्म के बीच द्वंद्व चल रहा है। भारतवर्ष भी इससे अछूता नहीं रह सकता। अत: हम कह सकते हैं मध्यकालीन विघटन और द्वंद्व की स्थिति आज भी धर्मनिरपेक्ष वैज्ञानिकता के मुखौटे को धारण करके हमारे सम्मुख खड़ी है। और यह स्थिति मध्यकालीन स्थिति से कम भयावह नहीं।''[12]

इस नए परिवेश ने जिस तरह की चुनौतियाँ पैदा की हैं, उससे पार पाना किसी बड़े वैचारिक आदर्श के संभव नहीं है। आज की संस्कृति भोगवादी होती चली गई है वह अपने ऐंद्रिक भाव में जिस वैचारिक आर्श की अवहेलना कर रही है असल में संकट में उसी से आश्रय मिलेगा, इसका उसे अंदाज़ा भी नहीं है।

ए.पी.सोरोकिन ने अपनी बहचर्चित थीसिस social and cultueral dynamics में आधुनिक मानव की संस्कृति को देहाश्रयी या ऐंद्रिक

संस्कृति कहा है। इस संस्कृति में हर अनुभव इन्द्रियानुभूति पर ही टिक जाता है। फलत: इसमें मनुष्य एक स्वयंचालित मशीन की स्थिति में आ जाता है-सिर्फ यौन संवेदनों तथा कुछ चुनी हुई अर्ध यांत्रिक-अर्धमनोवैज्ञानिक क्रियाओं का क्षुद्र पुतलामात्र-जिसके भीतर न तो कोई अपनी गरिमा हो सकती है और न जिसमें किसी चरम सनातन, उदात्त या पवित्र आदि के लिए सहज स्वाभाविक क्षेत्र रह जाता है, क्योंकि मनुष्य अपने प्रकृत रूप में एक क्षुद्र और अशुचि जीव है। इस तरह देहाश्रयी संस्कृति एक भीषण और भयावह अपसंस्कृति की ओर मनुष्य को धकेलती जाती है।

ऐसे समय में सारा मसला उदात्त भावनाओं पर ठहर जाता है। ऐसे गिर रहे मूल्यहीनता के संकट वाले समाज में रामचरितमानस सरीखे पुस्तक वरदान से कम नहीं हैं। सोरोकिन कल्पना करता है कि देहाश्रयी संस्कृति हिंसा की चरम संपृक्ति अवस्था की ओर बढ़ रही है। इस संपृक्त बिन्दु पर जाकर यह देहाश्रयी संस्कृति अपने आप बिखर जाएगी, क्योंकि शुद्ध जड़वाद पर स्थापित होने के कारण यह एक नाधर्मी जीवनदर्शन है।[13]

देहवादी मन:स्थिति के इस दौर में देह की संभावनाओं और सीमाओं से भी कुबेरनाथ राय अवगत हैं। वे मनुष्य के विकास की स्थितियों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि दैहिक रूप से मनुष्य को जितना विकास करना था वह कर चुका है अब जो विकास होगा वह मानसिक होगा। मनोवैज्ञानिक विकास। प्रसिद्ध जीवशास्त्री जुलियन हक्सले को उद्धृत करते हुए वे कहते हैं- मनुष्य मन अब 'हो रहा है' या 'भवति' की अवस्था में है. पर देह 'अस्ति' में है, अर्थात उसे जो होना था वह हो चुकी है।[14] ऐसे बिन्दु पर आकर वृषाकपि या अर्धमानव-युग के देहाश्रयी दर्शन की आज के विकसित चैतन्य के परिवेश में रखना अपने चारों ओर एक लक्ष्मण रेखा खींचना है। परंतु देहाश्रयी संस्कृति यही करती है। फलत: उसकी सीमा भी चुक जाती है एक सम्पृक्त ह्रासोन्मुखता की रचना कर। तत्पश्चात खंडित मन, खंडित व्यक्तित्व के टुकड़ों को बटोर कर जोड़ने और उन्हें पुनर्वास देने की समस्या, क्योंकि मन और व्यक्तित्व दोनों देहाश्रयी संस्कृति की राजकीय व्यवस्थाओं द्वारा निर्वासित तथा क्षत-विक्षत हो गए रहते हैं, कल्पना क्षत-विक्षत और घायल हो गई रहती है।

मानस यकीनन ऐसा ही एक आधार है जो आदर्श की स्थापना करता है और कुबेरनाथ राय तुलसी तथा मानस को ऐसे ही देखने की वकालत करते हैं। एक कदम आगे बढक़र उनकी नज़र में भारतीय परिवेश में जो संत्रास है जिसे मानस में कलियुग कहा गया है उससे निजात दिलाने के लिए हिन्दू मनीषा के विष्णु अवतार का रूपक उठाते हैं और कहते हैं कि अगला अवतार असल में होगा नहीं, बल्कि हो चुका है और वह अवतार है ग्रंथावतार और मानस ऐसा ही एक ग्रंथावतार है। वे मानस को श्रीमद्भागवत का रामावतार कहते हैं।

इसी से अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि कुबेरनाथ राय तुलसी विरोधियों को सिरे से खारिज़ करते हुए तुलसी की विधायक भूमिका के खोज की ओर उन्मुख हैं और यही अप्रोच

भारतीयता और उन्नति का पूरक है ऐसा उनका दृढ. विश्वास है। तो इस तरह तुलसी संबंधी उनकी विवेचना कई रास्ते खोलती हैं। कइयों पर आगे बढ़ना और कइयों पर रुक जाना यह आधुनिक आलोचना विवेक तय कर लेगा लेकिन कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि नया आलोचक कुबेरनाथ राय की सीमाओं और उनकी प्रस्थापनाओं दोनों से लाभान्वित हो सकता है क्योंकि जैसा कि लेख के आरंभ में मैंने कहा है कि सिर्फ विधायक ही नहीं सीमाएँ भी आगे बढ़ने और नए के निर्माण में सहायक होती हैं।

❖❖

संदर्भ

1. मध्यकालीन साहित्य विमर्श, संपादक-सुधा सिंह, प्रथम संस्करण 2004, आनंद प्रकाशन, कलकत्ता 700007, पृ. 73
2. तुलसीदास आधुनिक संदर्भ में, संपादक-विष्णुकान्त शास्त्री-जगन्नाथ सेठ, प्रथम संस्करण-1998, बंगीय हिंदी परिषद कलकत्ता 73, पृ 6
3. वही, पृ 134
4. शुक्ल रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, संस्करण 2017 अनुपम प्रकाशन पटना-4, पृ 38
5. तुलसीदास आधुनिक संदर्भ में, संपादक-विष्णुकान्त शास्त्री-जगन्नाथ सेठ, प्रथम संस्करण-1998, बंगीय हिंदी परिषद कलकत्ता 73, पृ.137
6. शर्मा रामविलास, मार्क्स और पिछड़े हूए समाज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली- पृ. 54
7. वही, पृ 56
8. तुलसीदास आधुनिक संदर्भ में, संपादक-विष्णुकान्त शास्त्री-जगन्नाथ सेठ, प्रथम संस्करण-1998, बंगीय हिंदी परिषद कलकत्ता 73, पृ.139
9. वही, पृ. 140
10. वही, पृ 140
11. वही, पृ 142
12. वही, पृ 143
13. वही, पृ 146
14. वही, पृ 145

कुबेरनाथ राय के निबंधों में शिल्पगत प्रयोग

● अभिषेक कुमार पांडेय

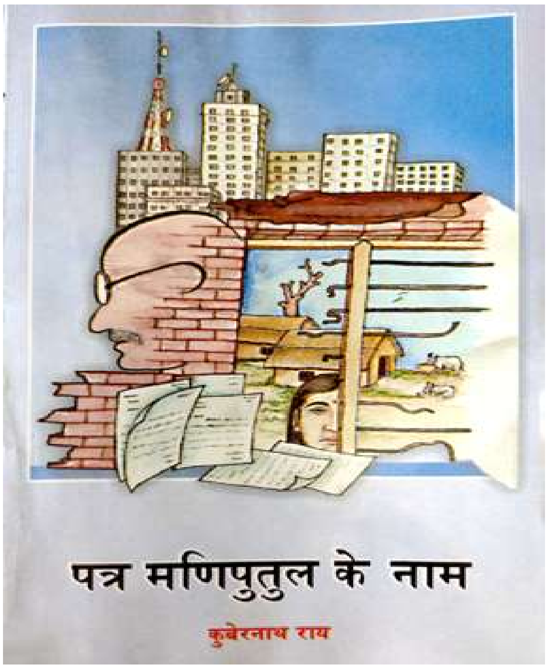

हिंदी ललित निबंधकारों की परंपरा में कुबेरनाथ राय का नाम अपना विशेष महत्व रखता है। न केवल इसलिए कि वे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से चली आ रही परंपरा के समर्थ वाहक हैं बल्कि इसलिए भी क्योंकि उन्होंने इस चली आ रही परंपरा में कुछ नया जोड़ा है- उनकी रचनात्मक मौलिकता ने इस परंपरा को एक नया रूप दिया है। टी.एस. एलियट का यह कथन उनके रचना कर्म के सन्दर्भ में पूरी तरह से चरितार्थ होता है कि- ''The past should be altered by the peresent as much as the peresent is dierected by the past.''[1] क्योंकि कुबेरनाथ राय ने अपने रचनाकर्म में पहले से चली आ रही परंपरा का संवर्धन किया है, उसके निकष का अनुशासन माना है तथा नवीन प्रयोगों द्वारा उस परंपरा को नया रूप भी दिया है।

हिंदी साहित्य में जब भी निबंधों की बात आती है तब दो नाम प्रमुख रूप से सामने आते हैं- पहला आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का तथा दूसरा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का। शुक्ल जी के निबंध वस्तुनिष्ठ एवं वैचारिक निबंधों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जबकि द्विवेदी जी के निबंधों को भावात्मक निबंध की कोटि में गिन लिया जाता है। यह एक प्रकार का सरलीकरण है क्योंकि उनके प्रखर पाण्डित्य, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के अगाध ज्ञान, मानवतावादी दृष्टि, भारतीय परंपरा के प्रति उनके दृष्टिकोण, लोक और शास्त्र में समान रूप से रस लेने वाली उनकी अभिरुचि तथा उनके लालित्य बोध आदि से युक्त

निबंधों को केवल 'भावात्मक' संज्ञा के अंतर्गत खपा देना उचित नहीं होगा। लेकिन ऐसा सरलीकरण होता आया है, और इसके लिए उनके तमाम वैचारिक निबंधों को किनारे कर के ललित निबंधों के संदर्भ में चर्चा 'अशोक के फूल' अथवा 'शिरीष के फूल' जैसी विशेष फ्रेम की रचनाओं पर ही केंद्रित होती रही है। सामान्य पाठकों के मन में भी 'ललित निबंध' सुनकर ऐसी ही रचनाओं का प्रत्यय बनता है। कुबेरनाथ राय अपने लेखन से इस धारणा को तोड़ते हैं। प्रथमत: तो वे स्वयं को मात्र ललित निबंधकार मानते हैं। और अपने व्यापक विषय-वस्तु वाले सभी निबंधों को ललित निबंध कहते हैं। इसी से पता चल जाता है कि उनके लिए एक विधा के रूप में ललित निबंध की परिधि कितनी व्यापक है। वे ललित निबंध को भी मात्र भावात्मक या व्यक्तिपरक निबंध मानने से इन्कार करते हैं- ''दुर्भाग्यवश ललित निबंध की एक संज्ञा व्यक्तिपरक निबंध भी है। इस संज्ञा के कारण लेखकों में यह आम धारणा फैली है कि यह वस्तुनिष्ठ रम्य रचना न होकर लेखक की आत्मकथा का टुकड़ा है और वे प्रत्येक संदर्भ में लेखक के यथार्थ जीवन को ढूँढ़ने की फूहड़ चेष्टा करते हैं।''[2] ऐसे में प्रश्न यह उठता है कि तब ललित निबंध है क्या? स्वयं लेखक की मानें तो ''विषय के आस-पास शिव के साँड़ की भाँति चरण और विचरण ललित निबंध है।''[3] उपर्युक्त दोनों उद्धरणों से यह बात निकलकर आती है कि ललित निबंध में वस्तुनिष्ठता होती है। किंतु साथ ही इसमें एक विशेष प्रकार की रम्यता भी होती है। विषय के साथ रम्यता का यह संयोजन ही ललित निबंध है, लेकिन सामान्य जन इसे इस रूप में नहीं देख पाते हैं और इसकी रम्यता से ही इतने आक्रांत हो जाते हैं कि इसमें निहित वस्तुनिष्ठता, बौद्धिकता और वैचारिकी देख ही नहीं पाते हैं। इसी बात का असंतोष कुबेरनाथ राय को है। वे ललित निबंध की तुलना साँड़ के चरने से करते हैं। साँड़ चरता है तो स्वच्छंद चरता है। वह कुछ भी छोड़ता नहीं है। किंतु उसके चरने की अपनी एक गति होती है जिसमें एक स्वाभाविक मस्ती भी होती है। और इस 'चरण-विचरण' का केंद्र भी विषय ही होता है (विषय के आस-पास शिव के साँड़ की भाँति।...) इस प्रकार ललित निबंध में वस्तुनिष्ठता होती है। किंतु वह होती है निबंधकार के व्यक्तित्व की आभा के साथ, मस्ती के साथ और प्रस्तुति की रम्यता के साथ। 'अशोक के फूल', 'छितवन की छाँह', अथवा 'निषाद बाँसुरी' जैसे निबंधों को कोरी भावुकता कहकर किनारे कर देना उचित नहीं है। इन निबंधों के विषय में गाम्भीर्य है, इनके प्रतिपाद्य में औदात्य है तथा इनके पीछे प्रबल बौद्धिकता और वैचारिकी भी है। किंतु इन सब के साथ इनकी प्रस्तुति में जो रम्यता है वह इन्हें सामान्य निबंधों से अलग करती हैं।

ललित निबंधों को अंग्रेज़ी के 'पर्सनल एस्से' का भारतीय संस्करण कहा जा सकता है। अंग्रेज़ी साहित्य में निबंध विधा का सूत्रपात लॉर्ड बेकन ने किया। उनके निबंध गम्भीर विषयों पर केंद्रित वस्तुनिष्ठ प्रकार के हुआ करते थे। भाषा में कसावट और सूत्रात्मक उनके निबंधों की अपनी विशेषता थी जिसके कारण उनके निबंधों का रूप-रंग मॉन्तेन के

निबंधों से पूर्णतया भिन्न हो गया। इस प्रकार मॉन्तेन के आत्मव्यंजक निबंधों से भिन्न प्रकार के विचार प्रधान, वस्तुनिष्ठ निबंध अस्तित्व में आए।

अंग्रेज़ी साहित्य में रोमांटिक आंदोलन के आगमन के साथ विलियम वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज ने जब कविता में वैयक्तिक अनुभूतियों को महत्व प्रदान किया तब अंग्रेज़ी निबंध का भी एक नया ही रूप सामने आया। चार्ल्स लैम्ब आदि ने जो नए प्रकार के निबंध लिखे उनका स्वर वैयक्तिक था। इन निबंधों का स्वर लॉर्ड बेकन की अपेक्षा मॉन्तेन के अधिक निकट था। फलत: वस्तुनिष्ठ-वैचारिक निबंध से इन्हें अलगाने के लिए इन्हें 'पर्सनल एस्से' की संज्ञा दे दी गई। इस प्रकार अंग्रेजी में मोटे तौर पर निबंध के दो रूप सामने आए, वस्तु व्यंजक निबंध और व्यक्ति व्यंजक निबंध।

कालांतर में जब निबंध हिंदी साहित्य में आया तो यहाँ भी समय के साथ इसके दो रूप सामने आए। पहला रूप तो अंग्रेज़ी के समान ही वस्तुव्यंजक वैचारिक निबंधों का था- बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी और सबसे बढ़कर आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंध इसी प्रकार के हैं। किंतु दूसरा रूप अंग्रेज़ी के आत्मव्यंजक निबंध या 'पर्सनल एस्से' से प्रभावित होकर भी भारतीय परंपरा की स्वाभाविक निर्वैयक्तिकता के रंग में रँगकर पूर्णत: आत्मव्यंजक नहीं हो सका। दूसरी तरफ हिंदी निबंध के इन दोनों ही रूपों को संस्कृत निबंध परंपरा से विचार-विमर्श का संस्कार विरासत में मिला था। इस संस्कार ने भी हिंदी निबंध के इस दूसरे रूप को विषयीनिष्ठ होते हुए भी अंग्रेज़ी के 'पर्सनल एस्से' के समान नितान्त वैयक्तिक नहीं होने दिया। हिंदी के इन विषयीनिष्ठ निबंधों में निबंधकार का वैयक्तिक स्वर पहचाना जा सकता है, उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति को सरलता से रेखांकित किया जा सकता है। किंतु इन निबंधों के विषय का दायरा केवल निबंधकार नहीं होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो इन निबंध की शैली तो 'मैं' की होती है, लेकिन बात केवल 'मैं' की नहीं होती। इनमें 'अहं' और 'इदम' का सुंदर समन्वय होता है।

इस प्रकार आधुनिक व्यक्तिवाद और पारंपरिक निर्वैयक्तिकता के बीच के तनाव से निबंध लेखन की जिस शैली का विकास हुआ वही ललित निबंध है। हिंदी में वैसे तो भारतेन्दु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुंद गुप्त, श्री चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी', सरदार पूर्णसिंह, रामवृक्ष बेनीपुरी आदि के निबंधों को ललित निबंध के रूप में देखा जाता है। लेकिन ललित निबंध को उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान करने का श्रेय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य विद्यानिवास मिश्र और कुबेरनाथ राय को ही जाता है।

कुबेरनाथ राय के रचनाकर्म में ललित निबंध लेखन का आरम्भ कुछ देर से हुआ। लेकिन जब आरम्भ हुआ तब परिवर्तन की नवीन सामग्री के साथ हुआ। उनके निबंध के शिल्पगत प्रयोगों ने ललित निबंधों की चली आ रही परंपरा में नवीन परिवर्तन उपस्थित किया। इससे एक विधा के रूप में ललित निबंध की परिधि का विस्तार हुआ। वास्तव में उनके निबंधों में भिन्न-भिन्न विधाओं के तत्त्व प्राय: ही प्राप्त होते हैं। विधाओं के इस समिश्रण से ललित निबंधों में जो स्वरूपगत

परिवर्तन आया है उससे एक विधा के रूप में ललित निबंध की श्रीवृद्धि हुई है। यहाँ हम उनके निबंधों में शिल्पगत प्रयोगों पर एक दृष्टि डालेंगे।

कुबेरनाथ राय के ललित निबंधों में जिस गद्य विधा के तत्त्व सबसे अधिक मिलते हैं वह है 'कहानी'। उन्होंने बहुत से निबंध ऐसे लिखे हैं जिन्हें 'कथात्मक निबंध' कहा जा सकता है। कथात्मक निबंध को विवरणात्मक निबंध का ही एक भेद माना जाता है- विवरणात्मक निबंध के ''कई रूप मिलते हैं। मुख्यत: (क) कथात्मक विवरण, (ख) जीवन चरितात्मक विवरण, (ग) घटनात्मक विवरण।''[4] प्रो. जयनाथ 'नलिन' का भी मानना है कि- ''कथात्मक में कालगत घटनाक्रम का वर्णन होता है- यही विवरणात्मक हुआ।''[5] किन्तु यह बात जमती नहीं है। जिन निबंधों की हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं उनमें कथानक, चरित्र, संवाद, देश-काल आदि कहानी के कई तत्त्व एक साथ उपस्थित हैं। इन सभी तत्त्वों को 'विवरणात्मक' संज्ञा के भीतर खपा देना उचित नहीं है।

कथा के तत्त्व कुबेरनाथ राय के पहले के ललित निबंधकारों के यहाँ भी मिल जाते हैं। मसलन, द्विवेदी जी ही 'आम फिर बौरा गए हैं' में जब कृष्ण और बाणासुर के युद्ध की बात करते हैं, या 'देवदारु' में अपने गाँव के 'फचफची गायत्री' पढ़ने पण्डित की बात करते हैं तब कथानक और चरित्र की कुछ हल्की झलक मिलती है। किन्तु जिस पूर्णता के साथ ये तत्त्व कुबेरनाथ राय के निबंधों में उपस्थित होते हैं वैसा उनसे पहले के ललित निबंधकारों के यहाँ नहीं होता है। एक उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है- ''धरती शान्त है; गिरिपथ-वनपथ-नदीपथ सभी नि:स्पंद हैं; कीट-पतंगों का चीं-चीं स्वर, साँड़-भैसों की हुँकार तथा मनुज-वंश का अविराम अश्रव्य गाली-गलौज या कपटी चाटुकारिता, यह सब कुछ बन्द हो गया है।... ऐसे में दो अनादि आत्माएँ परस्पर वार्तालाप कर रही हैं, परस्पर धीमे स्वर में, प्रेमालाप जैसी शैली में...।

'वाणी, सरस्वती!'

'........' (कोई उत्तर नहीं)

'वाणी, मेरा कंई विकल है। लगता है मेरे माथे में कुछ नया खिलवाड़ कर रही हो। चारो मुखों से चारो वेदों का गान करने के बाद भी लगता है कि कंठ में तुम्हारी किसी नयी भंगिमा का आवेश आ रहा है, मेरी इच्छा नये ढंग से गान रचने की हो रही है।'

''मैं थक गई हूँ। हटो, तंग मत करो। सोने दो। इंद्र-आदित्य-सोम का नाम लेते-लेते मैं ऊब गई। इन निष्कर्मा भोगियों की अब और प्रशस्ति गाने से मैं रही। अकेले-अकेले गाओ न सृष्टि-कमल पर बैठकर। मना कौन करता है! पर मुझे तंग मत करो।''[6]

उपर्युक्त उद्धरण के बैकग्राउण्ड में रात्रि के प्रशान्त वातावरण का चित्रण है। फोरग्राउंड में विधाता और सरस्वती का प्रेमालाप दिखाया गया है। इस छोटे से अंश में देशकाल-वातावरण, कथानक, संवाद और चरित्र-चित्रण का बड़ा सटीक संयोजन उपस्थित हुआ है। इस अंश के चित्रण और संवाद की नाटकीयता का संयोजन बहुत कुछ प्रसाद जी की कहानी 'आकाशदीप' जैसा ही है- भले ही इसमें काव्य का वह उत्कर्ष नहीं है। ऐसे में इस प्रकार के निबंधों को निबंध

माना ही क्यों माने, कहानी क्यों नहीं? ये प्रश्न खड़ा होता है। प्रश्न यह भी उठता है कि कहानी और निबंध में क्या भेद है? या कब कोई रचना कहानी कहलाती है और कब निबंध या कथात्मक निबंध कहलाने लगती है? वास्तव में कहानी या ''आख्यायिका और निबंध में कई बातों की समता है, इसलिए बहुत बार निबंध आख्यायिका के बहुत समीप का गद्यप्रकार प्रतीत होता है। मॉन्तेन ने निबंध के बारे में स्पष्ट कहा है- यह विचारों, उद्धरणों और कथाओं का समिश्रण है। निबंधों का मूल उद्देश्य कथा कहना अवश्य नहीं होता पर प्रसंगों की अवतारणा करनी पड़ती है, कथाकार के समान पात्रों की सृष्टि भी कभी-कभी आवश्यक हो जाती है। कहानी का आकार भी संक्षिप्त और सीमित होता है।... ऐसी और भी कई बातें है, जिनसे दोनों के नितांत नैकट्य की धारणा होती है। किन्तु यथार्थत: दोनों में अंतर है। कथा से जो तुष्टि लोगों को होती है वह पूर्णत: भावात्मक होती है, जबकि निबंध से वैचारिक। कथा वस्तुनिष्ठ होती है, उसमें कथाकार अपने से, अपनी कृति से तटस्थ रहता है, उसका आत्मभाव कहीं आता भी है तो पात्रों में, वर्णन में नहीं। निबंध आत्मनिष्ठ ही होता है, उससे व्यक्तित्व को किसी भी प्रकार से, अलग नहीं किया जा सकता है।''[7] अत: अपनी सारी रम्यता के बाद भी, सारी कथात्मकता के साथ भी इन कथात्मक ललित निबंधों का अंत जिस वैचारिकी में होता है वही वैचारिकी इन निबंधों को विशुद्ध कहानी विधा से अलगाती है। उदाहरण के लिए 'महाकवि की तर्जनी' से ही बाद के कुछ अंश द्रष्टव्य है-''पर वह ब्राह्मण बड़ा ही दबंग निकला। उसकी तर्जनी उसी तरह उठी रही और वह भी निर्भय होकर बोला, अथवा यों कहें कि उसके भीतर की सरस्वती बोली- 'तो तुम भी सुन लो। यदि तुम 'इतिहास' हो तो मैं भी हूँ 'काव्य!' हम और तुम दोनों सतीर्थ हैं। पर जब तुम विवेकभ्रष्ट होते हो, राज्यलिप्सा के नाम पर हज़ार-हज़ार मुंडपात करवाते हो, अर्थलोभ के कारण धरित्री का सारा दान, सारा घृत और मधु चाबियों से ऐंठकर ताले में बन्द कर देते हो, शुद्ध काम-लालसा को सभ्यता-संस्कृति कहकर चलाने लगते हो, तो मेरी तर्जनी बिना उठे मानती नहीं, मेरा कंठ एक क्रुद्ध श्लोक बोलने को विकल हो जाता है।''[8] निबंध के इस अंश में व्यक्त आवेग की तह में प्रखर वैचारिकी है, समाज और संस्कृति को देखने की एक विशेष दृष्टि है। यही इस रचना को कहानी के तत्त्वों से युक्त होने पर भी निबंध बनाता है। इस प्रकार इन रचनाओं को न तो कथा ही कहा जा सकता है ना विवरण ही कहकर किनारे किया जा सकता है। इन्हें कथात्मक निबंध कहना ही उचित होगा।

कथा से मिलती-जुलती जिस दूसरी विधा के तत्त्व कुबेरनाथ राय के निबंधों में प्राप्त होते हैं वह है आत्मकथ्य या एकालाप। एकालाप में आदि से अंत तक एक ही व्यक्ति बोलता है तथा उसकी बातों से ही किसी दूसरे की उपस्थिति या अनुपस्थिति का पता चलता है। एकालाप के द्वारा किसी पात्र के मनोभावों को चित्रित करना सहज ही सम्भव हो जाता है। ''जहाँ नाटक कार्यरत चरित्र का अंकन होता है, वहाँ एकालाप कार्यरत आत्मा का। इसमें पात्र अपने और अपने परिवेश

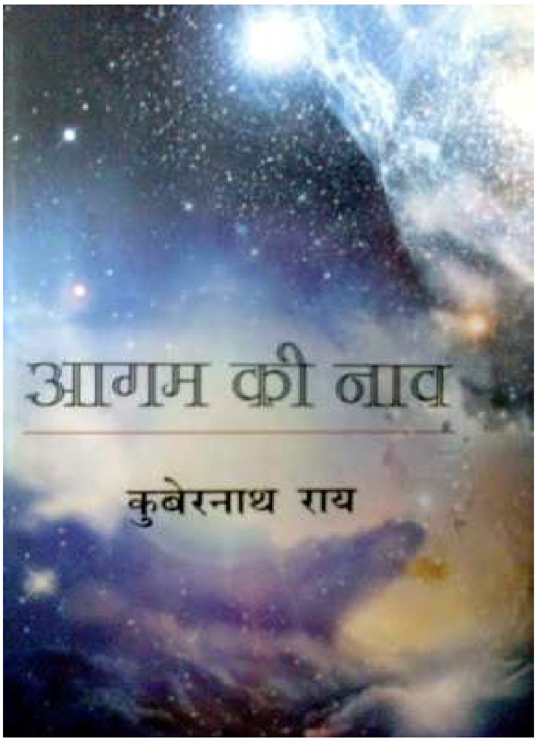

का चित्रण करता है और अन्य पात्रों से अपने सम्बन्ध का ज्ञान कराता है, जिस नाटकीय स्थिति में वह रहता है, उसे स्पष्ट करता है और अपने आंदोलित मनोभावों को प्रकट करता है।''[9] कुबेरनाथ राय ने अपने कई ललित निबंधों को एकालाप के रूप में लिखा है। इस शैली के निबंधों को उत्तम पुरुष में लिखा गया है। 'रस आखेटक' में इस शैली के तीन निबंध संग्रहित हैं- (क) होमर: आत्मकथ्य, (ख) सिंहद्वार का कवि-प्रेत और (ग) 'कवि प्रेत ने कहा'। पहला निबंध होमर का आत्मकथ्य है, दूसरा वर्जिल का तथा अन्तिम में शेक्सपियर का आत्मकथ्य है। इन निबंधों में आवेग शैली की प्रधानता है। अत: वाक्य छोटे-छोटे होते है और आवेगयुक्त होने के कारण पाठक के हृदय को सहज ही अपने आकर्षण में बाँध लेते हैं-''मैं बड़ी हुई। सभी मुझे प्यार से राजहंसी-'पिनीलोपी'- कहने लगे अन्यथा मेरा नाम था 'अर्नाइया'। मेरी चचेरी बहन हेलन के तुलना में मेरे सौंदर्य की उतनी विशेष चर्चा नहीं हुई। पर मैं भी स्वयंवरा हुई और पग-दौड़ की शर्त मेरे वरण के लिए रखी गई। स्वयंवरा थी पर वरण का आधार प्रतियोगिता थी पग-दौड़ की। हमारे हिरोइक युग का आदर्श ही यही है। हम वीरभोग्या होती हैं। हमारे हृदय और किसी और के रूमान का कोई अर्थ ही नहीं होता है।''[10] जिस प्रकार नाटकों में एकालाप के माध्यम से नाटककार नाटक के किसी पात्र के गूढ़ रहस्यों का, हृदय की गुप्त भावनाओं का उद्घाटन करता है, वैसा ही इन निबंधों में भी किया गया है। इन निबंधों में एकालाप के माध्यम से ही निबंधकार पाठकों के समक्ष देश-काल-वातावरण का चित्रण करता चलता है तथा उनपर टीका-टिप्पणी भी करता चलता है। मूल ऐतिहासिक-पौराणिक चरित्र का कथन होने के कारण इन निबंधों कथन बड़ा प्रामाणिक भी लगता है तथा चरित्र का संस्पर्श हो जाने से इनमें विशेष मार्मिकता भी आ जाती है।

लेखन कला के प्रारंभ से ही पत्रों का व्यवहार चला आ रहा है। भाषा के मौखिक रूप में हमारी अभिव्यक्ति देश-काल की परिधि में बद्ध थी। लेखन ने उसे इस परिधि का अतिक्रमण करने की शक्ति दी। पत्रों ने हमें यह छूट दी की देश-काल की सीमा का अतिक्रमण करते हुए भी हम अपनी अपनी बातचीत को पूरी गोपनीयता के साथ जिस विशेष व्यक्ति तक चाहे पहुँचा सकें। चूँकि पत्र

दो लोगों के बीच की ऐसी अनौपचारिक बातचीत है जिसका स्वर नितांत व्यक्तिगत होता है। इसलिए सामान्यत: इसका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं होता है। किन्तु पश्चिमी समालोचना के केन्द्र में कलाकर के आने पर पत्रों का महत्व बढ़ गया। किसी कलाकृति को समझने के लिए कलाकार का जीवन, उसकी विचारधारा तथा उसके समय और समाज को समझना ज़रूरी हुआ तो कलाकार से जुड़ी व्यक्तिगत बातें भी महत्वपूर्ण हो गईं। इस प्रकार पत्र साहित्य का विकास हुआ।

कुबेरनाथ राय के बहुत से ललित निबंध पत्राचार की शैली में लिखे गए हैं। ये निबंध शैली की दृष्टि से बालमुकुंद गुप्त द्वारा 'शिवशम्भु के चिट्ठे' नाम से लिखित निबंधों की परंपरा में आते हैं। किन्तु दोनों निबंधकारों की रचनाओं के स्वर में भिन्नता है। कुबेरनाथ राय द्वारा पत्र शैली में लिखे गए निबंधों का एक पूरा संग्रह है 'पत्र मणिपुत्तुल के नाम'। इन निबंधों में गाँधीवादी रसदृष्टि और शीलदृष्टि का निरूपण किया गया है। हालाँकि ये निबंध पत्राचार की शैली में ज़रूर लिखे गए हैं, लेकिन इन्हें वास्तविक पत्राचार नहीं माना जा सकता। वास्तविक पत्राचार के लिए पत्र पाने वाले का वास्तविक होना एक ज़रूरी शर्त है, जबकि इन निबंधों में ऐसा नहीं है। इन निबंधों में संबोधित व्यक्ति बातों को रखने का बहाना मात्र होता है। 'उत्तराफाल्गुनी के नाम' जैसे कुछ पत्र शैली के निबंध तो अमूर्त सत्ताओं को सम्बोधित करते हुए लिखे गए हैं। वास्तव में इन निबंधों में पत्र को एक लेखन के एक तकनीक के रूप में लिया गया है। यूरोपीय उपन्यास-लेखन में Epistolaery उपन्यास शैली प्रचलित है। इसमें वर्णन आदि के साथ ही दस्तावेजों के माध्यम से कथा को आगे बढ़ाया जाता है। इस शैली में सर्वाधिक लोकप्रिय दस्तावेज पत्र ही है। इन निबंधों में भी जाने-अनजाने इसी तकनीक का प्रयोग हुआ है। अंतर इतना ही है कि उपन्यास के पत्र को लिखने और पढ़ने वाले दोनों ही काल्पनिक पात्र होते हैं, जबकि निबंध में लिखने वाला तो लेखक ही होता है, लेकिन पढ़ने वाला व्यक्ति प्रतीक मात्र या पूर्णत: काल्पनिक भी हो सकता है। 'उत्तराफाल्गुनी के नाम' इस दृष्टि से बड़ा सुन्दर निबंध है-

''प्रिय उत्तराफाल्गुनी!

तुम्हें पत्र लिखने की तबियत बहुत दिनों से हो रही थी, परंतु इच्छा रह-रहकर बुझ जाती थी। कलेजे में माघ-माघ छाया रहता है और कहीं से कोई ताजी गर्म नसीब नहीं। वैसे भी तुम्हारे नाम की ऊष्मा के सिवा और कोई किरण कब मुझे नसीब हुई। आखीर लिखूँ भी तो क्या लिखूँ.....।''[11]

भावना का बड़ा सुंदर प्रवाह बन पड़ा है इस निबंध में। भाषा भी काव्यात्मक हो चली है। निबंध में जहाँ पत्र के अनुकूल ही स्वछन्दता है वहीं निबंध में जो मर्यादा होनी चाहिए वह भी है। इस निबंध की एक और विशेषता यह है कि स्वयं लेखक ने इसे गद्य-पद्य मिश्रित चम्पू शैली में लिखित माना है। ''इसे पाठक संस्कृत की 'चम्पू' (गद्य-पद्य मिश्रित) शैली के अनुरूप मान सकते हैं।''[12] निबंध का कुछ पद्यांश द्रष्टव्य है-

''मेरी शिखर-वासिनी प्रिया

मेरी प्रिय 'असमिया' छोकरी

तुम उतरो बनकर, एक पुलक, एक आलोक
तुम उतरो बनकर, एक स्वाद, एक मधु,
एक गान
बनकर उतरो वनपाँखी, पुरोहित का कण्ठ-
स्वर
निर्मल प्रसन्न प्रात और आशीर्वाद!....''[13]

'' 'फैंटेसी' शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द 'फैंटेसिया' से हुई है, जिसका अर्थ है अवास्तव या अमूर्त को दृश्य बनाना।... फैंटेसी की क्रियाशीलता में ऐसे वातावरण या चरित्र उपस्थित होते हैं जो मनुष्य जीवन की सामान्य परिस्थितियों में असंभव माने जाते हैं।.. फैंटेसी में भौतिक शास्त्र के नियमों की सीमा टूट जाती है, पशु या मानव जीवन का अंतर मिट जाता है, मनुष्य स्वभाव की आधारशिला डगमगा जाती है और काल्पनिक जीव समस्त मूल्यों को अव्यवस्थित कर देते हैं।''[14] वास्तव में यह एक विशेष प्रकार का कल्पनाचित्र या स्वप्नचित्र होता है जिसका आधार प्राय: बाह्य जगत का यथार्थ या पारंपरिक मिथक और दंतकथाएँ होती हैं। एक सृजनशील रचनाकार इसका प्रयोग एक रचनात्मक तकनीक के रूप में अपनी रचना प्रक्रिया में करता है। हिंदी में इसका सर्वाधिक प्रयोग मुक्तिबोध ने किया है। उनका इसके विषय में मानना है कि ''फैंटेसी के अंतर्गत पात्र, चरित्र, घटनाएँ आदि लेखक के संवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा उपस्थित और परिचालित दिखाई देते हैं।''[15] कोई रचना पूर्णत: या अंशत: फैंटसी हो सकती है। यह पूरी तरह से रचनाकार के रचनात्मक उद्देश्यों पर निर्भर करता है।

कुबेरनाथ राय के कई निबंध ऐसे हैं जिनमें स्वप्नचित्रों या फैंटेसी का सहारा लिया गया है- ''अचानक दृश्य पट बदलता-सा ज्ञात हुआ और मुझे लगा कि मैं अचानक किसी अदृश्य भोज-विद्या के वश में पड़ कर दूसरे देश-काल में प्रवेश कर रहा हूँ। मैं अचानक पहुँच गया प्रेत-नदी फल्गु के उदास तट पर और मैंने देखा कि अस्थि-वीणा पर एक अर्धनग्न पुरुष अपने आसन पर बैठा हुआ एक चर्या का गान कर रहा है, और पास ही में सम्भवत: कोई इषुकार कन्या शरकण्डों को क्षुरिक से परिष्कृत कर रही है।... मुझे लगा कि कोई दूर-दूर..... 10वीं शती के तप्त आकाश में नरम पंखों को पसारे एक जीव-कपोत विचरण कर है, वह दूर अति दूर, ऊपर सम्पाती की कक्षा पर ज़ढता चला जा रहा है।..वह जीव कपोत मैं ही था।..अचानक उस सिद्ध पुरुष की अस्थि-वीणा थम गयी जो हड्डियों पर भैंसे के चमड़े का तार कर बनाई गयी थी, पर जिसका स्वर अद्भुत था, और वह अपूर्व रागिनी को जन्म दे रही थी। उस सिद्ध पुरुष ने मेरी ओर देख कर कहा: 'तुमने मुझ पर ललित निबंध लिख कर अन्याय किया है।'...''[16] इस प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण हैं।... बहुत से निबंध हैं जिनमें अयथार्थवादी दृश्यों, असामान्य परिस्थितियों, बिखरे हुए स्वप्न चित्र, काल्पनिक जीवों, मिथकीय पुरुषों, देवी-देवताओं आदि से युक्त असाधारण वातावरण की सृष्टि लेखक ने अपने रचनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए की है।

इस प्रकार न केवल कथा-कहानी, एकालाप, पत्र या फैंटसी के ही तत्त्व बल्कि रेखाचित्र,

संस्मरण, रिपोर्ताज, यात्रा वृतांत आदि अन्यान्य विधाओं के तत्त्व भी कुबेरनाथ राय के निबंधों में देखे जा सकते हैं। कथात्मक निबंधों की संवाद-योजना में नाटकीयता भी देखी जा सकती है। वास्तव में जिस समय निबंध विधा का जन्म हुआ था उस समय तक कई आधुनिक गद्य विधाएँ अस्तित्व में आई ही नहीं थी। रेखाचित्र, संस्मरण आदि ऐसी ही विधाएँ हैं। इन सभी विधाओं के बीज निबंध में मिल जाते हैं।... निबंध इन सभी विधाओं का उत्स है। अत: आज यदि किसी के निबंध में इन विधाओं के तत्त्व दृष्टिगत हो तो यह आश्चर्य की बात नहीं है। बल्कि यह निबंध का स्वाभाविक रूप है। निबंध लेखक की रचनाधर्मिता की जो स्वतंत्रता प्रदान करता है, उसके सामने जो व्यापक विकल्प प्रस्तुत करता है उसी से इसे गद्य की कसौटी कहा जाता है। हिंदी निबंध में इस स्वतंत्रता का पूरा उपयोग नहीं हो पा रहा था। लेखक वार्ता, विवरण या विवेचन का ही रास्ता अधिक पसंद कर रहे थे। ऐसे में निबंध का 'रूप' बहुत कुछ एकरस हो गया था। जिसके कारण 'कथ्य' भी एक निश्चित परिधि के भीतर ही अवरुद्ध होकर रह गया था। अपने निबंधों के शिल्पगत प्रयोगों से कुबेरनाथ राय ने ललित निबंध में नवीन रूपगत परिवर्तन उपस्थित किया जिसके फलस्वरूप ललित निबंध के कथ्य की परिधि में भी विस्तार हुआ। अंतत: इससे एक विधा के रूप में ललित निबंध की श्रीवृद्धि हुई। कुबेरनाथ राय ने निबंध विधा की स्वतंत्रता का पूरा उपयोग किया, लगभग सभी शैलियों में हाथ चलाया। इस क्रम में उन्होंने कुछ नवीन शैलियाँ विकसित की तो कुछ पुरानी, विस्तृत शैलियों का पुनरोद्धार भी किया। इस दृष्टि से उनके निबंध बाद के ललित निबंधकारों के लिए बड़े काम के हैं। अपने निबंधों में भिन्न-भिन्न विधाओं का मेल कराके उन्होंने हिंदी ललित निबंध को न केवल एक बँधे-बँधाए फ्रेम से मुक्ति दी बल्कि उसे निबंध के मूल रूप अर्थात मॉन्तेन के निबंधों के निकट पहुँचा दिया। वह भी ललित निबंध के अपने व्यक्तित्व और उसके भारतीय रंग की रक्षा करते हुए।

❖❖

संदर्भ

1. Teradition and the Individual Talent- T.S. Eliot, Alfered A. Knof, New Yoerk, 1921

2॰ दृष्टि-अभिसार, अपनी बात- कुबेरनाथ राय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, संस्करण- 1984, पृष्ठ सं. VII

3. वही, पृष्ठ सं. V

4. हिंदी का गद्य साहित्य- रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर, संस्करण- 1955, पृष्ठ सं 65

5. हिंदी निबंधकार- जयनाथ नलिन, आत्माराम एण्ड सन्स, नई दिल्ली, संस्करण- 1954, पृष्ठ सं. 17

6. महाकवि की तर्जनी- कुबेरनाथ राय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संकरण- 1973, पृष्ठ सं. 1

7. हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास, 13वाँ भाग, प्रधान संपादक- डॉ. संपूर्णानंद, संस्करण- 2038, पृष्ठ सं. 50

8. महाकवि की तर्जनी- कुबेरनाथ राय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण- 1973, पृष्ठ सं. 7
9. हिंदी साहित्य कोश- सं. धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, संस्करण- संवत 2020, पृष्ठ सं. 192
10. प्रिया नीलकण्ठी, एक ग्रीक प्रोषितपतिका का आत्मकथ्य- कुबेरनाथ राय, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण 2013, पृष्ठ सं. 108-09
11. मराल, उत्तराफाल्गुनी के नाम- कुबेरनाथ राय, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण- 1993, पृष्ठ सं. 13
12. वही, पृष्ठ सं. 13
13. वही, पृष्ठ सं. 19
14. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली- डॉ. अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2016, पृष्ठ सं. 245-46
15. कामायनी: एक पुनर्विचार- गजानन माधव मुक्तिबोध, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2018, पृष्ठ सं.13
16. किरात नदी में चंद्रमधु, गेंडा और चंद्रमधु- कुबेरनाथ राय, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण- 1983, पृष्ठ सं. 10-11

कुबेरनाथ राय की रचनाधर्मिता

● मुहम्मद हारून रशीद ख़ान

कुबेरनाथ राय (1935-1996) कवि अथवा आलोचक नहीं थे, यद्यपि उनका एक काव्य-संकलन 'कंथामणि' उनकी मृत्यु के दो साल बाद 1998 में प्रकाशित हुआ। इसी तरह उनके निबंधों में जगह-जगह आलोचना का स्वर तो है, लेकिन उनकी कोई आलोचना की पुस्तक नहीं है। कहना यही उचित होगा कि उन्होंने अपने कवि को अभिव्यक्ति का अवसर कम दिया और उनके संवेदनशील लेखन ने उनके आलोचना-बोध को विकसित होने नहीं दिया। दरअसल, वे ललित निबंधकार थे, लेकिन उनका लालित्य भी अन्य ललित निबंधकारों से भिन्न था। उन्हीं के शब्दों में, मेरा लालित्य 'क्रुद्ध लालित्य' है। उनका आक्रोश फूटता है जब वे स्वामी सहजानंद महाविद्यालय गाजीपुर में प्राचार्य बनकर आते हैं या जब वे भारतीय अतीत की उपलब्धियों को सामने रखकर आज की भारतीयता को समझने का प्रयास करते हैं। दरअसल, वे एक ऐसे लेखक हैं जो अपनी परिस्थितियों से

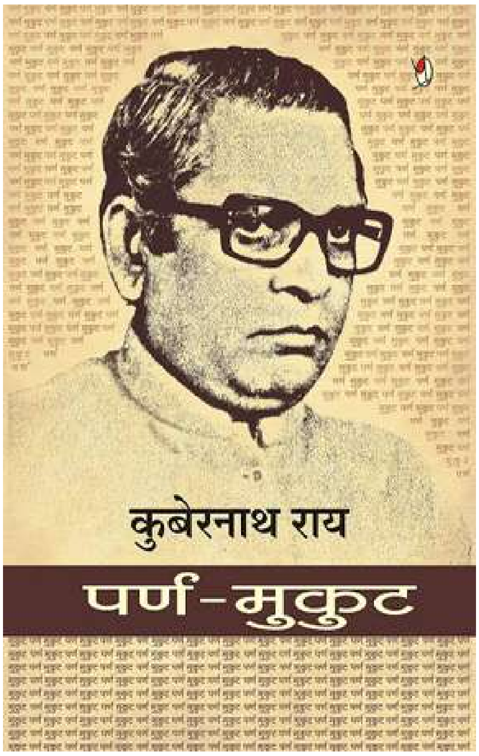

सामंजस्य नहीं स्थापित कर पाये। अतीत के संदर्भ में वर्तमान को नकारने की प्रवृत्ति प्राय: ललित निबंधकारों में पायी जाती है लेकिन कबेरनाथ राय के निबंधों में यह प्रवृत्ति अत्यधिक है। वे तीक्ष्ण आक्रोश से भरे हुए लगते हैं जिसके चलते उनका साहित्य या तो क्रोध है, नहीं तो 'अंदर का हाहाकार'- सच तो यह है कि मेरा संपूर्ण साहित्य या तो क्रोध है, नहीं तो अंदर का हाहाकार। पर इस क्रोध और इस आर्तनाद को मैंने सारे हिंदुस्तान के क्रोध और

आर्तनाद के रूप में देखा है। ('रस आखेटक', द्वितीय सं.2006, पृ. 185)।

इतना ही नहीं, अपनी कल्पना के क्रीड़ामय क्षणों में वे यहाँ तक घोषित करते हैं - विधाता की संपूर्ण सृष्टि में मेरे लिए चरम आकर्षण के दो ही बिंदु हैं, पहला नारी-देह का छंद और दूसरा है गरजता नील समुद्र। दोनों में कौन अधिक मोहक है, मेरे लिए यह कहना कठिन है। सुषमा के सम्मुख अमूर्त ऊँच-नीच, लाभ-हानि का तराजू भूल जाते हैं। अत: जो शख्स इसको अस्वीकार करता है वह यदि सत्य भी हो तो वह... मनुष्य का द्रोही हो जाता है। ('रस आखेटक', पृ. 62)।

इसी संदर्भ में वे 'रस आखेटक' में ही लोहिया जी को भी उद्धृत करते हैं- 'धरती की कोई नारी मुझे असुंदर नहीं लगती' (पृ. 61)। दरअसल, ऐसे कथन मूलत: छायावादोत्तर आधुनिक हिन्दी साहित्य द्वारा रस-बोध को साहित्य से खारिज करने की मुहिम के विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ हैं। कुबेरनाथ राय कभी-कभी अपने कथन के आग्रह के एक चरम को नकारने में दूसरे चरम को पकड़ लेते हैं। उनके साहित्य में ऐसी ही छिट-पुट उक्तियों एवं प्रसंगों को ध्यान में रखकर गाजीपुर में उनके महाविद्यालय के एक शिक्षक डॉ. जितेंद्र राय अक्सर कहा करते थे, "कुबेरनाथ राय की समूची साहित्यिक उपलब्धि का राज युवा अवस्था में ही आजीविका की खोज में असम में भटके, पत्नी एवं परिवार से अलग-थलग पड़े, एक प्रतिभाशाली व्यक्ति के मन में बनी कुंठाओं का विभिन्न रूपों में अतिक्रमण करने के प्रयास हैं।'' गाजीपुर के एक अन्य समीक्षक हृषीकेश जी जो जड़ मार्क्सवादी साहित्यकार थे जो अनवरत 'बुर्जुआ गाँधी' को सेक्स की जूती से पीट-पीटकर उनकी असलियत को बताते फिरते थे। गाँधी के ब्रह्मचर्य संबंधी 'प्रयोग' और कुबेरनाथ राय की कुछ प्रतिक्रियात्मक उक्तियाँ ऐसी व्याख्या के लिए उन्हें जगह भी देती थीं। अगर उनके अन्य महत्तर एवं वृहत्तर प्रयासों एवं प्रसंगों को दरकिनार कर दिया जाय तो एक असलियत यह भी है कि अक्सर हम देख भी वहीं पाते हैं जिसे हम देखना चाहते हैं, और हम देखना भी उतना ही चाहते हैं जितना हम देखने लायक हैं।

कुबेरनाथ राय के एक चर्चित आलोचक डॉ. पी. एन. सिंह अपनी पुस्तक ''कुबेरनाथ राय: सांस्कृतिक-साहित्यिक दृष्टि'' (2012) में एक स्थान पर लिखते है: कुबेरनाथ राय ने मार्क्सवादी भौतिक दृष्टि और चिन्तन पद्धति की भी आलोचना की है। वे भाववादी लेखक हैं, जो मूलयथार्थ को कोई 'वस्तुधर्मा' वास्तव न मानकर 'अमाप', 'अगाध', 'भावसत्ता' (आइडिया) के रूप में देखते हैं। वे वास्तव को 'अधोमुखी' और परावास्तव को 'ऊर्ध्वमुखी' बताते हैं। उनकी विलक्षण दृष्टि में कमल की 'रूप विलक्षणता और गुण विलक्षणता' में पंक कोई कारण नहीं, जैसे देह में बैठा कमल रूपी 'अजड़ दिव्य', अरुणप्राण-बिंदु या चैतन्य-कण का उस देह से कुछ लेना-देना नहीं है... श्री कुबेरनाथ राय एक परंपरावादी लेखकचिन्तक उनकी आर्य-परंपरा ने जिस भाववाद को पल्लवित-पुष्पित किया है, उसके वे विद्वान व्याख्याता हैं (पृ. 42)।

इस तरह डॉ. पी.एन. सिंह की निगाह में श्री

कुबेरनाथ राय के लेखन में संतुलन का अभाव है। लेकिन कुलमिलाकर, डॉ. सिंह ने उन्हें सोच में पारंपरिक होते हुए भी उन्हें सम्मान दिया।

कुबेरनाथ राय एक विराट चेतना के साहित्यकार हैं अपने प्रथम निबंध-संग्रह 'प्रिया नीलकंठी' के प्रथम संस्करण (1964) की 'भूमिका' में उन्होंने अपने 'राष्ट्रीय और साहित्यिक उत्तरदायित्व' के प्रति सजगता की बात उठाई है। इतना ही नहीं, उन्होंने 'प्रिया नीलकंठी' शीर्षक को उचित ठहराते हुए इसे अपनी साहित्यिक प्रतिभा का सार्थक प्रतीक बताया है। उनका साहित्यकार 'सलीब पर यंत्रणा भोगता' ईश्वर-परित्यक्त मसीहा मात्र नहीं है, वह देवत्व को उच्चतर और स्वस्थ करने एवं रखने वाला मसीहा है। वह निखालिस भौतिकवादी एवं आधुनिकता के गरल को पीकर भी अपने रचना के उल्लास को बचाए हुए है। इसके लिए वह परमुखापेक्षी होना नहीं चाहता, उसे अपने पितामह स्वरूप 'सहस्र शीर्षा हिंदुस्तान' के सही प्रतिभिज्ञान का संबल है ('प्रिया नीलकंठी', चतुर्थ संस्करण, पृ0 163, 164, 165)। अपनी समग्रता में कुबेरनाथ राय की संपूर्ण साहित्य-साधना भौतिकवादी है। आधुनिकतावाद के विरुद्ध सकारात्मक प्रतिकार और 'सनातन' भारतीयता के 'चिन्मय प्रवाह' को रेखांकित करते हुए उसमें निहित वैष्णवी रचनाधर्मी उल्लास के बोधमय निदर्शन से 'सनातन भारतीयता' के अमृत तत्व 'चिन्मय प्रवाह' का रेखांकन है। आश्चर्य नहीं, उनके साहित्य में आधुनिक-बोध एवं उसकी प्राय: प्रत्येक अभिव्यक्ति की असहिष्णु आलोचना है और इसके साथ ही परंपरागत भारतीय विवेक के महानतम श्रम-साध्य का उद्घाटन भी। इसके माने यह नहीं कि वे भारतीय

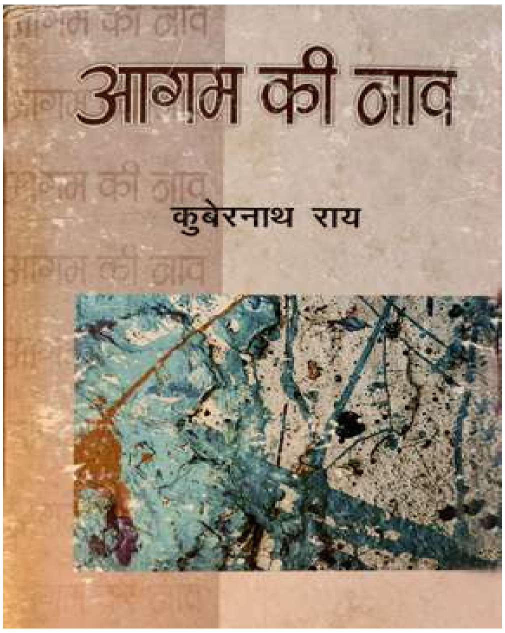

अतीत को समग्रत: स्वीकारते हैं। इस संदर्भ में भी उनका आलोचनात्मक-बोध सक्रिय है। भारतीय जाति के कर्मकाण्डी मन से व्यथित होकर वे लिखते हैं: यह जाति भोजन से अधिक महत्व थाली-तसले और आसन को देती है, मनुष्यत्व से अधिक महत्व वर्ण-व्यवस्था को देती है, और भावों-विचारों से अधिक महत्व व्याकरण को देती है। यह अपनी शिथिल कर्मनिष्ठा को छिपाने के लिए तरह-तरह के कर्मकाण्ड कलाप रचती है। ('गंधमादन', पृ. 8)।

'मनपवन की नौका' में भी आलोचना का यही तेवर विद्यमान है: परंतु मनपवन की नौका का खेल देखते-देखते यह बात सोचकर मन उदास हो जाता है कि धर्म के नाम पर विधि-निषेध की मानसिकता को प्रतिष्ठित करने वाले त्रिपुण्डधारियों ने मनपवन की नौका के पंख काट डाले हैं, डाँड़-पतवार तोड़ डाली है और

यह केवल जीर्ण तरी मात्र रह गयी है। समुद्र यात्रा निषेध, सहभोज निषेध, अमुक भोजन की जाति अमुक है, अमुक पानी की जाति अमुक है। भीतर सिमटो, कछुआ बन जाओ, कच्छप बनना ही नारायणत्व है; अत: ध्यानस्थ होकर इंद्रियों को समेट लो। जो कुछ बाहरी है; बहिरागत है, वह सब तुच्छ है, म्लेच्छ है, त्याज्य है।...एक-एक व्यक्ति एक-एक गोष्ठी, एक-एक जाति दूसरे के लिए तिब्बत बन गयी। खुलापन, मुक्ति, ताजा हवा, नये मौसम की जगह शताब्दी दर शताब्दी 'मानसिक जकड़बंदी' की रचना होती गई और हम अपने थेथर, निर्लज्ज और मोटी खाल की पीठ के नीचे सारे अस्तित्व को सम्पुटित करके कच्छप बनते गए। ('मनपवन की नौका', पृ. 27-28)।

कुबेरनाथ राय की दृष्टि में भारत के प्राय: हजार वर्षों के इतिहास में 'निषेध' जीत गया और 'जिजीविषा' हार गयी। सामाजिक हित में वे परिवर्तन को स्वीकारते भी हैं। 19वीं सदी के पुनर्जागरण के साथ जिजीविषा पुन: साँस लेने लगी है जिसकी अगुवाई राममोहन राय, दयानंद, तिलक, गाँधी और सबसे आगे बढ़कर 'नया हिंदू' 'जवाहरलाल इसी पुनर्जीवित जिजीविषा की अभिव्यक्तियाँ थे (वही, पृ. 22)। उनके प्रथम संकलन 'प्रिया नीलकंठा' में भी यह भारतीय पुरोहितवाद के विरुद्ध आलोचनात्मक स्वर मुखर है (पृ. 118, 119, 121)। प्राय: अपने प्रत्येक संग्रह में लेखक ने पारंपरिक भारतीय आचार पद्धति की संवेदनहीन गतिहीनता की कटु आलोचना करता है। चूंकि उनकी साहित्य-साधना मूलत: संस्कृति-साधना है, इसलिए यह आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य भी उनके साहित्यकार को समझने के लिए आवश्यक है, अन्यथा उन्हें प्रतिक्रियावादी घोषित करने का खतरा विद्यमान रहेगा।

कुबेरनाथ राय की कोई स्वतंत्र साहित्यिक दृष्टि नहीं है। उनकी साहित्यिक दृष्टि उनकी सांस्कृतिक दृष्टि से समग्रत: अनुकूलित है। उन्होंने 'रस आखेटक' में होमर, वर्जिल पर लिखे एकालाप में वर्जिल के माध्यम से अपनी साहित्यिक मंशा को अभिव्यक्ति दी है: होमर का उद्देश्य एकिलीज के व्यक्तिगत क्रोध और व्यक्तिगत कीर्ति का ज्ञान है। मेरा उद्देश्य व्यक्तिनद्ध नहीं, जाति-नद्ध है यह समस्त रोमन जाति की नियति का महाकाव्य है न कि नायक ईनियास नामक व्यक्ति का। ईनियास तो मात्र यंत्र है। उसके माध्यम से रोमन नियति अपना ऐतिहासिक विकल्प पूरा करा रही है। यह इतिहास की शिक्षा है जो ईनियास, जीजस या लेनिन और गाँधी को अपना शिकार बनाती है और अपने विकल्प की पूर्ति के लिए सुख-दुख भोगती है...नायक है इतिहास मृतपात्र भर है, जो इतिहास की ज्वाला ढो रहा है... सोच-सोचकर करुणा होती है। एक उदास और तटस्थ रहने के लिए बाध्य करुणा। ('रस आखेटक', पृ.184, 185)।

वर्जिल से वे पुन: कहलवाते हैं: पर मैं क्या कहूँ? मेरे ऊपर तो सारे राष्ट्र की लज्जा का बोझ आ पड़ा था, मैं तो पानी-पानी हो गया था और चुप रहने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं था। भाखड़ा नांगल और इंदिरा गाँधी का नाम लेकर अपनी आत्मवंचना या अपना ग़म ग़लत कर लूँगा पर महान दिग्विजयी शस्त्रधारी रोमनों के ऋषि कवि

को तो इससे उल्लू नहीं ही बनाया जा सकता है। अत: मैं चुप ही रहा। ('रस आखेटक', पृ. 173)।

रोम और भारत की एक ही समस्या है और वह यह कि नेताओं से देश भरता जा रहा है और आदमी के रहने की जगह घटती जा रही है। एक विशुद्ध साहित्यिक समानता भी है। वर्जिल से मानो वे अपनी बात कहलवा रहे हैं, परन्तु क्लासिकल साहित्य का स्वर्ण-चक्षु राज्य पक्षी होते हुए भी मेरे साहित्य का स्वभाव रूमानी है- मेरी शैली में सर्वत्र रोमांटिकता का आग्रह है।

यहाँ एक इतिहास दृष्टि है जो मूलत: बर्गसाँ से ली गयी है जो बर्नार्ड शा के चर्चित नाटक 'मैन एण्ड द सुपरमैन' का कथ्य है। लेकिन अपने सेक्युलर प्रारब्धवाद में यह इतिहास-दृष्टि मार्क्स के निकट है और विचारवादी प्रारब्धवाद के संदर्भ में हीगेल के। इतिहासधारा मानव मानवेतर नैतिकता-निरपेक्ष इयत्ता है। पंथ सोच में यह मानवीय प्रारब्ध देवों की इच्छा की शक्ल में आता है। लेकिन कुबेरनाथ राय हमेशा इससे सहमत नहीं हैं क्योंकि राम-कथा पर लिखे गये उनके ग्रंथ इस सेक्युलर एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के प्रारब्धों को अतिक्रमित करते हैं। लेकिन यहाँ वे जिस बिंदु के सर्वाधिक निकट है वह है अपनी जाति-नद्धता, और इस रूप में वे अगर उन्हीं के बिम्बों का प्रयोग करें, तो भी अपना गद्य मृदंग बजाते हुए भारतीय जातीयता के प्रति संकल्पित हैं। लेकिन उनके साहित्यिक वाङ्मय में बहुत कुछ ऐसा भी है जहाँ से होमर और शेक्सपियर की अनुगूँजें भी सुनी जा सकती हैं। वैसे होमर का लिखा गया एकालाप अत्यन्त कमजोर है, शायद इस कारण कि होमर उनका काव्यादर्श नहीं है, न ही होमर से उनका महात्म्य बनता है, लेकिन होमर के आयाम उनके मन के अनुकुल ज़रूर हैं- एक है अपना आत्मविश्वास बनाए हुए अजेक्स का प्रकाश के लिए प्रार्थना, जब दैवी प्रकोप से ट्राय युद्ध में यूनानी सेनाओं पर अंधकार छा गया था; 'हे शक्तिमान, हम तुमसे प्राण की भीख नहीं माँगते। यूनान के पुत्रों के सिर्फ अंधकार से तुम रक्षा करो। मैं अधिक नहीं माँगता, तू हमारा दिवस लौटा दे। हमारी दृष्टि लौटा दे। फिर तो हमारी भुजाएँ हैं, हमारे भाले हैं।' और दूसरा बिंदु है: होमर का 'औदात्य' जिसके चार आयाम है: विषय की विराटता, गहरे सत्यों की चुभन, ओज और अभिव्यक्ति की सूक्ष्म सघनता। जिसे राय साहब 'क्लासिक शैली' बताते हैं। राय साहब भी भारत में 1930 के बाद के और विशेषत: स्वातंत्र्योत्तर काल को 'विषाद' का युग और 'मुशल पर्व' बताते हैं जब सभी कर्मोंमाद के ज्वर से पीड़ित हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें भी एक ही संबल सूझता है और वह है सूर्योदय की प्रतीक्षा-एक ही निराकरण और उपाय है और वह है वर्तमान की धुंध और 'कयास' के मध्य जीते हुए भी सूर्य की सत्ता में अखण्ड विश्वास और सूर्योदय की प्रतीक्षा करना एवं इस गहन अनिश्चय की दृष्टि-भ्रांति के मध्य एक-दूसरे को पुकार कर 'वाणी' द्वारा अपने जीवित रहने की सूचना देना। इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है। एक सूर्य-प्रतिबद्ध अविचल एवं कट्टर वर्ग द्वारा (जिन्हें मैं 'नये ब्राह्मण' की संज्ञा देना चाहता हूँ, जन्मत: वे किसी जाति-धर्म के क्यों न हों) सूर्योदय की धीर और अविचल प्रतीक्षा

के सिवाय और कोई उपाय नहीं। ('विषाद-योग', पृ.233)।

ठीक ऐसे ही 'विश्वास' की अभिव्यक्ति 'पर्ण मुकुट' के निबंध 'ओ अभयहस्त, ओ दक्षिण पाणि' के पृष्ठ 101 पर होती है। यह तो सांस्कृतिक-सामाजिक चिंता की समानता है। दोनों में साहित्यिक समानता भी है, और अगर कुबेरनाथ राय के संपूर्ण वाङ्मय की किसी एक केंद्रीय विशिष्टता की बात की जाय तो वह निश्चित रूप से 'औदात्य' होगा। जिन चारों होमरी तत्वों की चर्चा उन्होंने की है वे सारे तत्व उनके साहित्य में सद्य: वर्तमान हैं। आश्चर्य नहीं, श्री राय ने कबीर की 'भाषा बहता नीर' जैसी तद्भव-स्थापना को खारिज किया और अपनी भाषा का आदर्श तुलसी को बनाया जहाँ संस्कृत की तत्समता की हीर को कायम रखते हुए तद्भवता का है; राम और गाँधी जैसे महानायकों के लिए जिनमें 'क्रोध और अनुराग' का विरल समन्वय है, समग्र भारतीयता की समन्वित सांस्कृतिक पीठिका-भारतीय निषाद-आर्य, द्रविड़-सुकरात-बसु का रेखांकन विधा है और 'भारतीय मन और विश्वमन' के बीच सामंजस्य रूप देने के लिए राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय चिंतन पर दृष्टि डाला जिसका एक केंद्रीय उद्देश्य हिन्दी पाठकों की मानसिक वृद्धि और बौद्धिक क्षितिज का विस्तार है। इनके साहित्य में आलोचना का तल्ख भी है और रचना की गंभीर चिंता भी। परिप्रेक्ष्यगत मत-मतांतर हो सकते हैं, लेकिन इस विराट चिन्ता एवं प्रयास से जो साहित्य उद्भूत हुआ है उसकी एक निर्णायक विशेषता है औदात्य।

कुबेरनाथ राय ने शेक्सपियर पर भी एक एकालाप लिखा। लगता है शेक्सपियर के परिवेश एवं मानवीय चिन्ता से उनका गम्भीर तादात्म्य बनता है। शेक्सपियर का 'सड़ा' 'डेनमार्क' शेक्सपियर का इंग्लैंड रहा हो या न रहा हो, लेकिन श्री राय का स्वातंत्र्योत्तर भारत निश्चय ही 'सड़ा' डेनमार्क है और उसका 'हैमलेट' श्री राय का उदास नीलकंठ है। कई मानों में यह एकालाप आत्मालाप बन गया है। शेक्सपियर से कहलवाते हैं:

मैं जिस युग में पैदा हुआ था उसके प्रति अनुभूति ईमानदारी मुझे बरतनी ही चाहिए। मेरा युग ही विकृत था। मैं तो अनुभूतियों का दर्पण मात्र हूँ। फिर भी युग के विकारों की प्रतिछाया को मैंने दर्पण के नाभि-केंद्रों को परिवर्तित करके निरन्तर परिष्कृत करने की चेष्टा की है। मुझे तुम सहानुभूतिपूर्वक पढ़ो तो तुम्हें विकृतियों के अंतराल में उद्घाटित महिमा के दर्शन होंगे। ('रस आखेटक', पृ. 280)।

लेखक ने शेक्सपियर के आलोचकों की भी चर्चा की है और अंत में 'हैमलेट' का एक कथन उद्धृत किया है जिसमें एक वंशी का रूपक खड़ा कर (याद रखें अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' को) साहित्यकार के हृदय की रहस्यमय, अकृत एवं अनमोल गहराई की ओर ध्यान खींचता है: 'देखो, इस वंशी की ओर। इसमें बहुत-बहुत संगीत भरा है। पर इससे तुम 'शब्द' नहीं बोलवा पाओगे (यह केवल 'सुर' ही देगी)। तुम क्या समझते हो कि मुझे बजाना इस वंशी से भी आसान है।' यह आत्मकथन लगता है। कुबेरनाथ राय हिंदी के प्रगतिशील आलोचकों की उपेक्षा से बिंधते रहे

क्योंकि उन्होंने इन्हें 'प्रतिक्रियावादी', 'हिंदूवादी' लेखक मानकर इनकी उपेक्षा की है। इन पर कलम नहीं चलाया। उन्होंने उनकी उपेक्षा की और इन्होंने प्रतिक्रिया स्वरूप उनकी असहिष्णुता की आलोचना की। डॉ. नामवर सिंह ने एक बातचीत में ही कहा था कि ऐसे 'प्रतिक्रियावादी' लेखक के बारे में क्या लिखना, यूँ भी श्री राय में उर्दू, मुसलमान, नारी, सेक्युलरिज्म, मार्क्सवाद, आधुनिक-बोध के प्रति गहरा दुराग्रह है, और हिन्दूवादी राष्ट्रवाद के प्रति अतीव आग्रह भी।

श्री राय आलोचकों की उपेक्षा से बिंधते रहे और अपने लेखन में उनकी खोज-खबर भी लेते रहे। 'हैमलेट' का उपर्युक्त कथन एक ओर अपने उपेक्षित साहित्यिक स्व की रक्षा है तो दूसरी ओर यह आलोचकों को अँगूठा दिखाना भी है। राय साहब ने एक बात सही ही कही है कि पराजित युग में वीरता

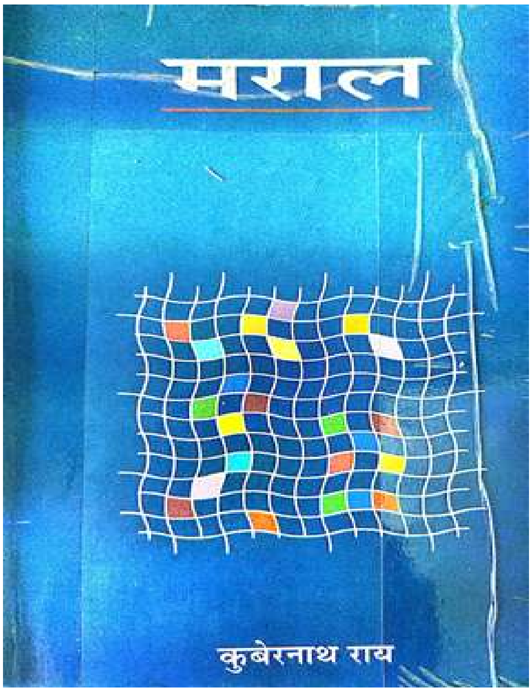

की पूजा होती है और समृद्धि के युग में रस-साधना की ('रस आखेटक' पृ. 240)। उनकी पराजित संस्कृति वीरपूजक है। वे प्रगतिशीलों से बिदकते रहे और उन पर फब्तियाँ कसते रहे, और प्रगतिशील आलोचक उन्हें उपेक्षित करते रहे।

राय साहब का बोध वीरपूजक (राम, कृष्ण, बुद्ध, गाँधी आदि में आशातीत विश्वास) है और वे किरात वन-कान्तर की सुरक्षित भूमि से रस आहरण भी खूब किया लेकिन आर्य निषादों वाली गंगा तीरी माहौल में जहाँ गांधारी दर्शन जीत चुकी हो और धृतराष्ट्र की वीणा अनवरत बज रही हो ('पर्ण मुकुट', पृ. 209-216), उनकी रस-साधना बाधित हुई। 'मराल' में जो निबंध गाजीपुर में लिखे गये वे बोधप्रधान हैं, रस-प्रधान नहीं। आहरण और इनमें वीर-पूजा की प्रतिश्रुति भी हैं। दरअसल, कुबेरनाथ राय एक माने में टी.एस. एलिएट से मिलते-जुलते हैं जो धार्मिक आस्था के स्तर पर मूल ईसाई धर्म रोमन कैथोलिक थे, राजनीति के स्तर पर परंपरा के प्रतीक राजशाही के समर्थक थे और साहित्य के स्तर पर 'क्लैसिसिस्ट'। राय साहब भी धार्मिक आस्था के स्तर पर 'सनातनी' हिंदू, राजनीति और व्यवहार के स्तर पर भाजपाई और साहित्य के स्तर पर 'क्लैसिसिस्ट' रहे। इस सांस्कृतिक वैचारिक स्थिति की कुछ अनिवार्य परिणतियाँ थीं - हिंदू राष्ट्रवाद, अल्पसंख्यक फोबिया, रस-बोध के इतर सामान्य नारी के व्यक्तित्व का अवमूल्यन, सेक्युलर चिन्तन एवं जीवन मूल्यों के प्रति गहरी अनास्था,

अतीत-व्यामोह और एक सीमा तक सांस्कृतिक असहिष्णुता, आदि।

अभी तक मैंने उन पर लिखी तीन पुस्तकें देखी और पढ़ी है। हूबनाथ का 'ललित निबंधकार कुबेरनाथ राय' (2011), कृष्ण चंद गुप्त का 'ललित निबंधकार कुबेरनाथ राय' (2010) और तीसरी पुस्तक डॉ. पी.एन. सिंह की ''कुबेरनाथ राय की साहित्यिक-सांस्कृतिक दृष्टि' (2012)। इसमें किसको सबसे अच्छा कहा जाय। इसमें तीनों पुस्तकें अपने-अपने तरीके से लिखी गयी है। डॉ. हूबनाथ ने मूल्यांकन न कर मात्र विषय निरूपण ही किया है। कृष्णचन्द गुप्त भी बहस और विमर्श तक न उठकर मात्र उनका साहित्यिक परिचय जैसा ही कुछ लिखा है। मैं पी.एन. सिंह की पुस्तक के बारे में क्या कहूँ। कुछ समझ में नहीं आता, क्योंकि कुछ भी निर्णायक रूप से कहना उचित नहीं लगता। डॉ. पी. एन. सिंह को कुबेरनाथ राय के बारे में जल्दबाजी में कुछ कहना आत्मश्लाघा होगी। लेकिन कुल मिलाकर, इतना निश्चित है कि कुबेरनाथ राय एक ऐसे निबंधकार हैं जिन्हें ठीक से पढ़ना और उन पर लिखना चुनौतीपूर्ण है।

❖❖

मानस का वातायन

● डॉ. अपराजिता राय

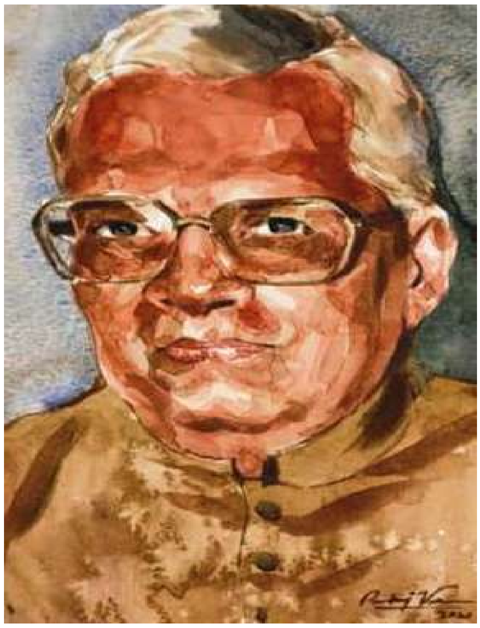

गँवई माटी से जुड़े भारतीय अस्मिता की खोज के लिए 'मन पवन की नौका' पर सवार घाट-घाट पर लगंर डालने वाले, रस का आखेट करते हुए भारतीय संस्कृति के रस में आकंठ डूबने वाले आर्ष चिन्तन के बुनियादी सूत्र से चिन्मय भारत का रूप गढ़ने, सँवारने वाले 'ललित निबंधकार कुबेरनाथ राय' की पौत्री के रूप में मेरा जन्म हुआ। श्री राय का परिवार साधारण किसान किंतु साहित्यिक, सांस्कृतिक और धार्मिक सुरुचि से संपन्न राष्ट्रीय विचारधारा का रहा है। विगत चार पीढ़ियों से इनका परिवार श्रीवैष्णव - रामानुज-सम्प्रदाय में दीक्षित था। प्रपितामह को गुरु द्वारा दी गई शालिग्राम शिलामूर्ति अब भी परिवार में पूजित है। यही गृहदेवता हैं। कुल देवी ढढ़नी ग्राम स्थित चंडी देवी हैं इस प्रकार परिवार सनातनी स्मार्त वैष्णव है।

साहित्य प्रेम और देश भक्ति की भावना कुबेरनाथ राय को विरासत में मिली थी। इनके पितामह के अनुज पं. बटुकदेव शर्मा अपने जीवन काल (1900-35) के स्वनाम धन्य समाजसेवी एवं पत्रकार थे। आपने जीवन भर अविवाहित रहकर देश सेवा का व्रत लिया था। इन्होंने 'देश' तरुण भारत, लोकसंग्रह, प्राणवीर, आदि राष्ट्रीय धारा के पत्रों का सम्पादन भी किया था। कुछ वर्ष गणेशशंकर विद्यार्थी द्वारा सम्पादित पत्र 'प्रताप' में भी कार्यरत रहे। कुबेरनाथराय के व्यक्तित्व पर इनका गहरा प्रभाव पड़ा। श्री राय को अंग्रेज़ी भाषा का ज्ञान और राष्ट्रीय विचारधारा के बीज इनके पितामह से ही मिले थे। इनके द्वारा भेजी गईं पुस्तकें 'सरस्वती', 'माधुरी' तथा 'विशाल भारत'

की पुरानी फ़ाइलें श्री राय की साहित्यिक गुरु बनीं। जीविकोपार्जन के 27 वर्ष तक असम प्रवास में परिवार विहीन रह रहे कुबेरनाथ राय की रिक्तता को विद्वतजनों की संगति ने भरा। एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा था - ''वहाँ मैने बहुत कुछ पाया। एक तो जिस जगह नलबारी में था वह छोटी-सी ज़रूर थी लेकिन साहित्य का परिवेश वहाँ बहुत अच्छा था। जिस कॉलेज में मैं पढ़ाता था उसी में असमिया के कई प्रतिष्ठित साहित्यकार भी पढ़ाते थे। सच तो यह है कि किताबें कम पढ़ी और विद्वानों के सानिध्य में रहकर ज़्यादा सीखा और पाया। वहाँ आगम, दर्शन, ज्योतिष और वेदांत के बड़े-बड़े पंडित थे उनके साथ काफी उठता-बैठता रहा।''

1959 से 1986 तक नलबारी कॉलेज असम में अंग्रेज़ी व्याख्याता एवं विभागाध्यक्ष के रूप में कार्यरत रहे। असम का राजनैतिक माहौल बदल जाने के कारण असम छोड़कर गाजीपुर स्थित स्वामी सहजानंद स्नातकोत्तर महाविद्यालय में 1986 से 1995 तक प्राचार्य पद पर नियुक्त रहे।

गाजीपुर आने के बाद इनका सानिध्य हमें पर्याप्त रूप में मिलने लगा। अस्तु! इनकी विद्वत्ता मेरी समझ से परे थी। मैं तो केवल इनको अपने बाबा के रूप में ही जानती थी। 4-5 साल की उम्र अक्षर के 'क, ख, ग' तक ही सीमित रहते हैं, अस्तु मेरे संस्कार, परिवेश, सभ्यता का 'क, ख, ग' भी इन्हीं की छत्रछाया में प्रारम्भ हुआ। उसी समय छोटे भाई अनंत - विजय का जन्म हुआ। इनके असम प्रवास के दौरान केवल मेरा ही जन्म हुआ था। सांस्कृतिक मेधा के मानक, आर्ष परम्परा के ज्वलन्त प्रतिमान श्री राय यथार्थ से जुड़े रहकर साहित्य की शास्त्रीयता में डूबे रहने वाले शान्तचित्त एवं एकांतवासी व्यक्तित्व के धारक थे, परंतु जहाँ तक परिवार जनों के साथ की बात है तो वे एक सहज, सरल स्वभाव के साथ अपनी पारम्परिक सभ्यता- संस्कृति को आत्मसात करते हुए कुटुम्बकीय जिम्मेदारी को बखूबी निभाया करते थे। भले ही उनके अंत:स्थल में बसने वाली शास्त्रीयता गँवई, ठेठ, देशी भोजपुरिया के रहन-सहन एवं बात-चीत में छलक जाती थी। उनका गरिमामय व्यक्तित्व स्वीकृति-अस्वीकृति के द्वंद से परे अखंडता का अराधक था।

मेरे मानस पटल पर अपने बाबा श्री कुबेरनाथ राय के साथ बीता बचपन एक बाईस्कोप की तरह अंकित है। जिसे मेरी शादी के बाद मुझसे किसी ने न पूछा। केवल जिम्मेदारियों की भारी- गठरी मेरे सिर पर लाद दी गयी जिसे ढोते ढोते मेरी अतीत की यादें धुँधली होती हा रही हैं। मैं आभारी हूँ डॉ. मनोज राय जी की जिन्होनें नें मुझे संस्मरण लिखने के लिए उत्साहित किया। जिनकी वार्ता ने मेरे मानस का वातायन एक झटके में खोल दिया। ऐसा महसूस हुआ जैसे किसी नें एक ज्योति-पुंज के प्रकाश से अपने पितामह के सान्निध्य को उकेरने का साहस प्रदान किया है। जिस गाँव में मेरा जन्म हुआ, मेरे पितामह श्री राय की छत्र-छाया मिली वह गाँव मुझे प्रिय है। वह घर, वह दालान वह बरामदा का कमरा जो श्री राय का अध्यन कक्ष था, मुझे बार-बार याद आता है। मैं वहाँ बार-बार जाना चाहती हूँ। उसमें वे यादें जिसमें श्री राय के साथ मेरा

बचपन बीता मन को विह्वल और चित्त को उदास कर देता था। हम भाई-बहन इस बात से अनभिज्ञ थे कि मेरे पितामह एक प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं। हम तो बाल सुलभ हठ करते हुए उनकी कलम को पकड़ लेते थे, कभी-कभी हम रूठ जाया करते थे कि आप इतने बड़े होकर इतना क्यों पढ़ते-लिखते हो ? आपको कौन-सी परीक्षा पास करनी है। तो हँसने लगते थे। वह हँसी आज भी मेरे मस्तिष्क में रस घोलती है। कहते थे चलो क्या खेलना है। खाली माचिस का टेलीफोन बनाते थे। बाज़ार से लाये खिलौनों के साथ 'हाथी, घोड़ा, पालकी जय कन्हैया लाल की' जैसे खेल करवाते थे। माँ बताती थी कि कभी-कभी उनके हाथों से ही भोजन करने का हठ करती थी। सुई-खनक शांति में अध्ययन लेखन करने वाले मेरे पितामह हम लोगों के कोलाहल पर कभी क्रोधित नहीं होते थे। इनके द्वारा बनाए गए चित्रों में रंग भरना हमें बहुत अच्छा लगता था। रामचरित मानस, महाभारत जैसे पौराणिक ग्रंथों के चित्रों के सहारे हमें कथाएँ सुनाते थे जो आज भी मस्तिष्क में अमिट हैं। किसी श्लोक चौपाई अथवा छंद को याद करने के लिए हमें पुरस्कार प्रदान करते थे।

हम लोगों के दिन की शुरुआत प्रात: 04:00 बजे श्री राय के मधुर स्वरित श्लोकों एवं वैदिक ऋचाओं से होती थी। नित्यकर्म क्रिया एवं उनके पूजा अर्चना के पश्चात नाश्ते से लेकर रात्रि भोजन तक सपरिवार ही करते थे। वह सामान्य जनों से ज्यादा मिलना-जुलना पसंद नहीं करते थे लेकिन जिस तरह उनके साहित्य में भारतीय संस्कृति का वैविध्य बड़े चटक रूप में प्रकट हुआ है, एक ओर यदि वे संस्कृति, इतिहास, दर्शन तथा साहित्य के मर्म को विलक्षण रूप से खोलते हैं वहीं दूसरी ओर लोक जीवन में इसकी व्याप्ति और विस्तार का संश्लेष भी दिखाई देता है उन्होंने अपने साहित्य में शाश्वत समयातीत का मर्म चुना है। अस्तु, गाँव के मल्लाह, चमार, अहीर, धोबी यहाँ तक कि त्यौहार के दिन अनाज माँगने वाले डोम आदि के लोगों से बड़े सहज सरल एवं स्वाभाविक रूप से बातें करते थे। उस समय मेरी समझ से परे की बात थी।

इनके ललित-निबन्धों का मूल विषय क्षेत्र, लोक जीवन ही मैं मानती हूँ।इस लोक-जीवन की वास्तविक मनोभूमि, ग्राम-प्रकृति विशिष्ट है। वह ढूँढ़ते थे लोकगीतों में शास्त्रीयता, स्वरों में झंकृत पाते थे वेद ध्वनि तो कहीं अनन्त चतुर्दशी को होने वाले प्रति एवं समुद्र टटोलने वाली क्रिया से प्रारम्भ कर इतिहास की अनेक अनुस्मृतियों को जागृत कर 'मन पवन की नौका' पर सवार होकर द्वीपान्तर की यात्रा करने लगते। वहीं हम दोनों को इस खेल के माध्यम से सहज ही अपनी संस्कृति की पहचान कराने लगते थे। हम लोग जोर-जोर से गाते थे-का ढुँढ़ताणं ? क्षीर समुद्र, पवली, पालगी, जीय! इस तरह हर एक त्योहार बड़े उत्साह के साथ मनवाते थे। होली के दिन खुद ही हम लोगो से रंग लगवाते और आलू का ठप्पा बनाकर देते और अपने पीठ पर लगवाते।

पौराणिक कथाओं के साथ-साथ हमें बांग्ला एवं असमियाँ कथाएँ भी बताया करते थे। साथ ही बंगला की 'खीरे पुतुल' जैसे कहानियाँ सुनाया करते थे। अंग्रेज़ी साहित्य से भी अवगत कराते

थे कक्षा 8 तक जाते-जाते मैं इनके व्यक्तित्व और कृतित्व की ओर धीर-धीरे आकर्षित होने लगी। हाईस्कूल में ललित निबन्धकार के रूप में पितामह को पढ़कर अति प्रसन्नता हुई। और आकर घर पर यह बात बताई तो बाबा बिल्कुल सहज भाव से कहने लगे नहीं ललित निबंधकार तो हजारीप्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र आदि हैं। मैं तो केवल इनकी श्रेणी में रख दिया गया हूँ। मैंने उसी समय यह भी सवाल किया था कि आपके नाम के आगे डॉ. क्यों नहीं लगाया जाता है। उनका कहना था मैंने भी एम.ए. करने बाद रिसर्च करना चाहा। 'पोयटिक ड्रामा ऑफ टी.एस. एलियट' परंतु पैसों की तंगी ने मुझे नौकरी करने पर मजबूर कर दिया। श्री राय की इच्छा थी कि मैं हिंदी से स्नातकोत्तर एवं शोध कार्य करूँ।

श्री राय का विवाह पं. बंगाल के मालदह ज़िले में 'भलुका' नामक ग्राम में श्रीमती महारानी देवी से हुआ था। जिनके पूर्वज उ.प्र. के बलिया ज़िले से वहाँ जाकर बसे थे। श्री राय को इस बात का हमेशा खेद रहा कि वे संयुक्त परिवार की जिम्मेदारियों की वजह से अपनी एकमात्र संतान के प्रति जागरूक नहीं रहे। मेरे पिता कौशलेंद्र कुमार राय एक साधारण किसान हैं। लेकिन जितना आदर-भाव सम्मान अपने पिता को देते हैं, शायद ही उनकी संतान उनको दे पाये। 05 जून 1996 की वह रात एक झटके में पूरे परिवार के लिए दुख का विप्लव लेकर आयी, जब रात्रि भोजन का समय था। माँ रोटियाँ बनाने जा रही थीं। भोजन करने के लिए बाबा उठना चाहे परंतु उठे नहीं। उनकी हृदयगति रुक चुकी थी। पिता जी अस्पताल लेकर गये लेकिन लेकर आये पितामह का पार्थिव शरीर जो केवल स्मृतिशेष है।

उनकी मृत्यु के बाद उनकी कुछ रचनाएँ अप्रकाशित रह गयी। जिसे श्री राय के अनुज नागानंद वात्स्यायन ने प्रकाशकों से सम्पर्क बनाकर प्रकाशित कराने का प्रयत्न किया। कुछ प्रकाशित हुईं। कुछ प्रकाशनाधीन हैं। इनका भी देहावसान मार्च 2020 में हो गया। अभी भी कुछ रचनाएँ अप्रकाशित हैं। इनकी कृतियों रचनाओं, पुरस्कार, सम्मानों स्मृति चिह्नों को सहेजना ही इनके परिवार का धर्म है। मूर्तिदेवी पुरस्कार में मिली वाग्देवी की कांस्यप्रतिमा आज भी बंसत पंचमी के दिन परिवार में पूजित है। पूजा श्री राय खुद किया करते थे।

❖❖

स्वाधीनता आंदोलन और भारतीय पत्रकारिता
(अनैतिक सत्ताएँ मुखर-प्रखर अभिव्यक्ति से भयाक्रांत रही हैं)

● विजयदत्त श्रीधर

भारत के स्वाधीनता आंदोलन को व्यापक अर्थों में राष्ट्रीय नवजागरण मानना होगा। यह परतंत्रता से मुक्ति का बहुविध आंदोलन था। भारतीय पत्रकारिता, क्वचित अपवादों को छोड़कर, इस आंदोलन में कंधे से कंधा मिला कर चल रही थी। नवजागरण आंदोलन का पहला आयाम था फिरंगी हुकूमत से आजादी। यह आंदोलन का राजनीतिक पक्ष था। दूसरा आयाम समाज सुधार था, क्योंकि भारतीय समाज अनेक कुरीतियों, अंधविश्वासों, पाखण्डों से बुरी तरह ग्रस्त था और ठगी तथा धूर्तता का शिकार था। तीसरा आयाम स्वदेशी और स्वावलंबन था। इसका लक्ष्य था आर्थिक आजादी। भारत के शिल्प और उद्यमिता को विनष्ट कर यहाँ का कच्चा माल यूरोप ले जाया जाता था और वहाँ से तैयार माल ऊँचे दामों पर बेचने के लिए भारत आता था। स्वदेशी और स्वावलंबन के माध्यम से आत्मनिर्भरता और रोजी-रोजगार एवं आर्थिक खुशहाली का लक्ष्य

था। चौथा आयाम था समाज में शिक्षा का प्रसार और उसमें आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का समावेश। शिक्षित समाज बनाने के लिए शिक्षा पर विशेष

जोर दिया गया। ज़ाहिर है, नवजागरण आंदोलन फिरंगियों के हितों पर चोट करता था, इसलिए वे दमन और प्रताड़ना का कोई भी हथकण्डा अपनाने से बाज नहीं आते थे। इसे भी एक क्रूर मजाक मानना चाहिए कि फिरंगियों ने दमन और प्रताड़ना के कदमों को कानून और न्याय का जामा पहनाने की हर मुमकिन चेष्टा की।

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन का प्रामाणिक वृत्तान्त जानने का एक प्रमुख स्रोत समकालीन समाचार पत्र और पित्रकाएँ हैं। यद्यपि उस संघर्ष काल में भी तथाकथित मुख्यधारा की पत्रकारिता, बहुधा एंग्लो-इण्डियन कंपनियों के अखबार स्वाधीनता आंदोलन से प्राय: विरक्त थे। उनके लिए आंदोलन की घटनाएँ भारतीय दण्ड संहिता (इण्डियन पीनल कोड) और दण्ड प्रक्रिया संहिता (क्रिमिनल प्रोसीजर कोड) की धाराओं से भिन्न कोई अर्थ नहीं रखती थीं। जबकि भारतीय भाषाओं के समाचार पत्र और पित्रकाएँ आंदोलन के समाचार प्रकाशित करते थे। अँग्रेज़ हुकूमत की दुर्नीतियों की आलोचना करते थे। कायदे कानूनों पर भी टिप्पणियाँ करते थे। जन-जागरण में भूमिका निभाते थे और स्वाधीनता आंदोलन को राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हुए सेनानियों के त्याग और बलिदानों की महत्ता स्थापित करते थे। फिरंगी हुकूमत की नजरों में पत्रकारिता की यह भूमिका विधि के विरुद्ध थी। इसके लिए पत्र-पित्रकाओं पर जुर्माना लगाना, जमानत माँगना और जप्त करना, प्रिंटिंग प्रेस पर छापा डालना और सील कर देना, संपादकों को जेल में डालना जैसी प्रताड़ना आम बात थी। भारतीय पत्रकारिता के लिए यह गर्व की बात है कि अमानुषिक यातनाओं की कीमत पर भी हमारे संपादक और सहयोगी पत्रकार अपने कर्मपथ से डिगने, झुकने और बिकने से इनकार करते थे। किसी भी देश और समाज के स्वाधीनता संग्राम में पत्रकारों और पत्रकारिता की ऐसी दुर्धर्ष भागीदारी का दूसरा उदाहरण नहीं मिलता।

फिरंगी हुकूमत की बर्बर कार्रवाइयों के शिकार अँगरेज संपादक भी कम नहीं हुए। अठारहवीं शताब्दी के आखिरी दशकों में भारत में पत्रकारिता की शुरुआत हो जाती है और इसी के साथ दमन और प्रताड़ना का सिलसिला शुरू हो जाता है। ईस्ट इण्डिया कंपनी के मुलाजिम विलियम बोल्ट्स ने इश्तेहार जारी किया - ''मेरे पास ऐसी बहुत सारी बाते हैं, जो मुझे कहना है और जिनका संबंध हर व्यक्ति से है।'' बोल्ट्स को बलात इंग्लैण्ड रवाना कर दिया गया। वह अखबार नहीं निकाल पाया। बोल्ट्स ने अपनी किताब 'कन्सीडरेसन्स ऑन इण्डियन अफेयर्स - 1772' में लिखा है कि ब्रिटिश अधिकारी विरोध या असहमति को बरदाश्त करने के बजाय ऐसे किसी अवांछनीय यूरोपीय को भारत से बलात विदा कर दिया करते थे।

भारत के पहले समाचार पत्र 'द बेंगाल गजट ऑर केलकटा जनरल एडवरटाइजर' (हिकीज गजट -1780) के संपादक प्रकाशक जेम्स आगस्टस हिकी, 'बंगाल जर्नल' के संपादक विलियम डुआने, 'टेलीग्राफ' के संवाददाता एच.एम. केनली इत्यादि कलमकार कंपनी सरकार की प्रताड़ना के शिकार बने।

13 मई, 1799 को गवर्नर जनरल लार्ड

बेलसले ने समाचार पत्रों पर कानूनी बंदिश लगाने का पहला कदम उठाया। इस नियमावली में प्रावधान किया गया -

(1) प्रत्येक समाचार पत्र के मुद्रक को समाचार पत्र के अन्त में नीचे अपना नाम मुद्रित कराना होगा।

(2) प्रत्येक समाचार पत्र के संपादक और मालिक को अपने घर का पता सरकार के सचिव को लिख कर देना होगा।

(3) कोई भी समाचार पत्र रविवार को प्रकाशित नहीं होगा।

(4) कोई भी समाचार पत्र तब तक प्रकाशित नहीं होगा जब तक उसमें प्रकाशित होने वाली सारी सामग्री का सरकार के सचिव या उनके द्वारा अधिकृत व्यक्ति ने निरीक्षण न कर लिया हो। (यह भारत में सेन्सरशिप की बुनियाद है।)

(5) इन नियमों का पालन नहीं करने वाले को तुरंत वापस यूरोप भेज दिया जाएगा।

दरअसल, ईस्ट इण्डिया कंपनी के शीर्ष अधिकारी भारी भ्रष्टाचार में लिप्त थे और उनकी कारगुजारियाँ मानवता के विरुद्ध गंभीर अपराध बनी हुई थीं। इनकी खबरें न तो भारत में फैलें और न ही ब्रिटिश पार्लियामेंट और शासन के संज्ञान में आएँ, इसी दृष्टि से कानूनी शिकंजे की तजबीज ईस्ट इण्डिया कंपनी के हुक्मरान कर रहे थे। अभिव्यक्ति पर दूसरा अंकुश आम सभा पर प्रतिबंध लगाकर थोपा गया।

चार अक्टूबर 1813 को लार्ड हेस्टिंग्ज गवर्नर जनरल बना। उसने प्रेस पर शिकंजा कसने के लिए एक और नियमावली लागू की। इसमें

प्रावधान किया गया -

(1) प्रेसों से मुद्रित होने वाले सभी समाचार पत्रों और अन्य प्रकाशनों की सामग्री के प्रूफ पुनरीक्षण के लिए मुख्य सचिव के पास भेजे जाएँ।

(2) सभी प्रकार की सूचनाएँ, हैण्डबिल तथा ऐसी ही अन्य मुद्रित होने वाली सामग्री के प्रूफ मुख्य सचिव के पास पुनरीक्षण के लिए भेजे जाएँ।

(3) मुद्रित होने वाले सभी मौलिक ग्रंथों के शीर्षक मुख्य सचिव के पास सूचना के लिए भेजे जाएँ। मुख्य सचिव अपने विवेक से ऐसे ग्रंथों के मुद्रण की या तो स्वीकृति देंगे या पाण्डुलिपियाँ परीक्षण के लिए बुला सकेंगे।

(4) 13 मई 1799 और 6 अगस्त 1801 को जारी नियम यथावत तब तक प्रभावशील रहेंगे जब तक कि उनमें कोई संशोधन न किया जाए।

लार्ड हेस्टिंग्ज ने 19 अगस्त 1818 को नये नियम जारी किए। इन नियमों को अंतर्गत संपादक निम्नलिखित विषयों से संबंधित जानकारी प्रकाशित

नहीं कर सकते थे -

(1) भारत सरकार से संबंधित कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स या इंग्लैण्ड की सरकार द्वारा उठाए गए कदमों या लिए गए निर्णयों की निंदा करना या उनमें दोष ढूँढना, स्थानीय शासन की राजनीतिक कार्रवाइयों पर चिंता व्यक्त करना, कलकत्ता के बिशप या कौंसिल के सदस्यों अथवा उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के कार्यों के संबंध में अपमानजनक विचार प्रकट करना।

(2) ऐसी चर्चाएँ जिनसे जनता में यह शंका उत्पन्न होती हो कि शासन उनकी धार्मिक भावनाओं या मान्यताओं में हस्तक्षेप करना चाहता है।

(3) भारत में ब्रिटेन के अधिकार या प्रतिष्ठा पर विपरीत प्रभाव डालने वाले अँग्रेज़ी या अन्य समाचार पत्रों के उदधरणों का पुन: प्रकाशन।

(4) समाज में फूट डालने वाले ऐसे षड्यंत्रों या काण्डों अथवा व्यक्तिगत आक्षेप का प्रकाशन।

इस तरह प्रेस पर ईस्ट इण्डिया कंपनी का शिकंजा बना रहा।

सन 1818 में बंगाल में बांग्ला पत्रकारिता की शुरुआत हुई। सन 1822 में मुंबई में गुजराती और कोलकाता में उर्दू-फारसी पत्रकारिता आरंभ हुई। सन 1823 में जान एडम गवर्नर जनरल बना। उसने प्रेस के लिए लायसेंस प्रणाली लागू कर दी। इसमें प्रावधान किया गया कि समाचार पत्र के प्रकाशन से पहले लायसेंस प्राप्त करने के लिए मुख्य सचिव को आवेदन देना होगा। जब कभी समाचार पत्र/पित्रका का नाम बदले या उनका मुद्रक-प्रकाशक बदले, तब हर बार नया शपथ पत्र देना होगा। गवर्नर जनरल को यह अधिकार था कि वह बिना कारण बताए लायसेंस रद्द कर सकता था। अध्यादेश का उल्लंघन करने पर जुर्माना और कैद की सजा का प्रावधान किया गया था। पाँच अप्रैल 1823 से यह अध्यादेश लागू कर दिया गया।

भारतीय भाषायी पत्रकारिता के पुरोधा राजा राममोहन राय ने इस अध्यादेश का विरोध किया। विरोध स्वरूप अपने फारसी साप्ताहिक 'मिरात उल अखबार' का प्रकाशन बंद कर दिया। राजा राममोहन राय के अनुयायियों और कतिपय उदारवादी अँगरेजों ने उनके अभियान का समर्थन किया। जब चार्ल्स मेटकॉफ गवर्नर जनरल बना, तब उसने विवादास्पद अध्यादेश वापस लेते हुए, नए नियम बनाए जो तीन अगस्त 1835 को लागू हुए। इनमें चार प्रावधान थे-

(1) प्रत्येक समाचार पत्र का मुद्रक और प्रकाशक मजिस्ट्रेट के सामने घोषणा पत्र प्रस्तुत

करते हुए उसमें प्रकाशन के स्थान की पूरी जानकारी देगा। मुद्रण के स्थान में परिवर्तन होने अथवा यदि मुद्रक या प्रकाशक ईस्ट इण्डिया कंपनी के अधिकार क्षेत्र के बाहर चला जाता है, तब नया घोषणा पत्र प्रस्तुत करना होगा।

(2) बिना घोषणा पत्र के मुद्रणालय चलाने पर पाँच हजार रुपये तक का जुर्माना और दो वर्ष तक की सजा भुगतना होगी।

(3) प्रत्येक पुस्तक या समाचार पत्र पर मुद्रक और प्रकाशक का नाम तथा मुद्रण के स्थान का ब्यौरा देना होगा।

(4) इस प्रावधान का उल्लंघन करने पर, घोषणा पत्र प्रस्तुत न करने की पेनाल्टी के बराबर सजा और जुर्माना भुगतना होगा।

सन 1857 के स्वाधीनता संग्राम के पहले तक बंगाल के भाषायी प्रेस की, प्रसार संख्या के मान से, पहुँच बढ़ी और प्रभाव भी बढ़ा। रेवरैण्ड जे. लांग ने 1855-57 की रिपोर्ट में लिखा - ''बांग्ला अखबारों के संपादकीय यद्यपि बहुत सशक्त नहीं होते, लेकिन पुनरावृत्ति की प्रक्रिया से वे देशज लोगों के मस्तिष्क पर दृढ़ और गहरा असर करते हैं। प्रबुद्ध और प्रभावशाली हिन्दुओं के दृष्टिकोण को दिशा देते हैं। प्रत्येक पत्र के दस पाठकों के मान से तीस हजार लोगों तक उनकी पहुँच है। सरकारी कामकाज के संबंध में उनके विचार दूर-दूर तक लोगों तक पहुँचते हैं। भास्कर जैसे कुछ बांग्ला पत्र तो पंजाब तक प्रसारित होते हैं।''

भारत में पत्रकारिता के लिए पहली शहादत का गौरव मोहम्मद बाकर को मिला जो सन 1837 से 'देहली उर्दू अखबार' का संपादन-प्रकाशन कर रहे थे। पहले स्वाधीनता संग्राम के दिनों में वतन परस्ती और फिरंगियों के विरोध में उनकी कलम जम कर चली। अँगरेज जब दिल्ली पर काबिज हो गए तब मोहम्मद बाकर को मैदान में खड़ा करके गोली मार दी गई।

सन 1857 की क्रांति में 'पयाम-ए-आज़ादी' का यशस्वी अवदान है। इसकी भूमिका स्वतंत्रता संग्राम के मुखपत्र की तरह थी। क्रांतिकारी अजीम उल्ला ख़ां संपादक और बहादुर शाह जफर के पौत्र बेदार बख्त प्रकाशक थे। 'पयाम-ए-आज़ादी' ने बहादुर शाह जफर के फरमान पर टिप्पणी लिखी थी - ''हिंद के वाशिन्दों अर्से से जिसका इंतजार था, आजादी की वह पाक घड़ी आ पहुँची है। हिन्दुस्तानी अब तक धोके में आते रहे और अपनी ही तलवार से अपनी ही गर्दनें काटते रहे। अब हमें मुल्क फरोशी के इस गुनाह का कुफ्फारा करना चाहिए। अँग्रेज़ अब भी अपनी पुरानी दगाबाजी से काम लेंगे। वे हिन्दुओं को मुसलमानों के खिलाफ और मुसलमानों को हिन्दुओं के खिलाफ भड़काएँगे।'' दिल्ली पर कब्जा करने के बाद अँगरेजों ने 'पयाम-ए-आज़ादी' के प्रकाशक बेदार बख्त को फाँसी पर लटका दिया। जिनके घर में 'पयाम-ए-आज़ादी' की प्रति मिली, उन्हें मौत के घाट उतार दिया।

हिन्दी-बांग्ला के दैनिक पत्र 'समाचार सुधावर्षण' ने बादशाह बहादुर शाह जफर का अँगरेजों को देश से निकाल बाहर करने का फरमान पूरा का पूरा छापा था। दिनाँक 5, 9 और 10 जून के अंकों में विप्लवी सेना की तैयारी के समाचारों का प्रकाशन किया। 13 जून 1857 को गवर्नर

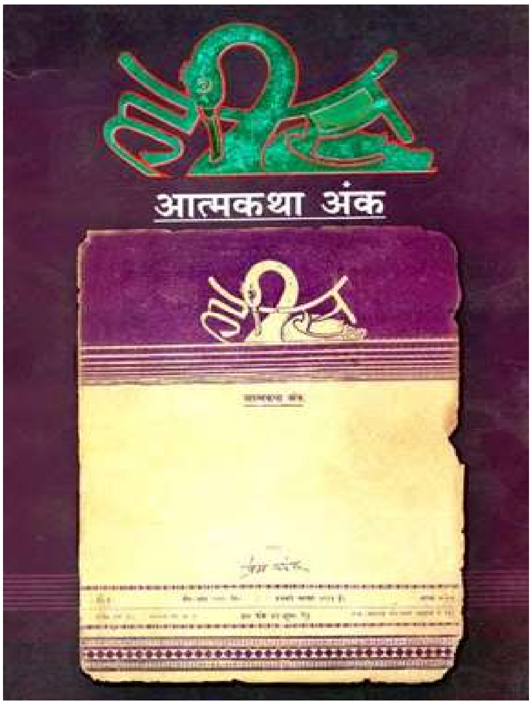

जनरल लार्ड केनिंग ने प्रेस एक्ट लागू किया। 'समाचार सुधा वर्षण' के संपादक श्याम सुंदर सेन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया। यह फरमान फारसी के 'दूरबीन' और 'सुल्तान उल अख़बार' ने भी छापा था। परंतु उनके संपादक मुहम्मद ताहिर और अहमद अली ने आगे ऐसा नहीं करने का वचन देकर कार्रवाई से मुक्ति पा ली। लेकिन श्याम सुंदर सेन ने मुकदमा लड़ने का फैसला किया। 17 जून 1857 को पेशी हुई। श्याम सुंदर सेन की जिरह ने जजों को परेशानी में डाल दिया। ईस्ट इण्डिया कंपनी को दीवानी का हक बादशाह के फरमान के जरिए ही मिला था। उसी बादशाहत के बादशाह के द्वारा जारी फरमान को गैर कानूनी करार नहीं दिया जा सकता था। 'समाचार सुधा वर्षण' ने बादशाह अर्थात हिन्दुस्तान के वैधानिक शासक का फरमान छाप कर कानून नहीं तोड़ा था। इसलिए 'समाचार सुधा वर्षण' के संपादक श्याम सुंदर सेन के विरुद्ध कोई कार्रवाई करना संभव नहीं हो सका।

हिन्दुस्तान में अँग्रेज़ी हुकूमत परस्त लोगों और रियासतों की भी कमी नहीं थी। भोपाल के नवाब फिरंगी हुकूमत का साथ देने के लिए जाने जाते हैं। उर्दू के पहले दैनिक अखबार 'उर्दू गाइड' में जो कोलकाता से अजीज अंसारी के संपादन में सन 1858 से प्रकाशित हो रहा था, भोपाल नवाब की ऐसी ही कारगुजारी की खबर मिलती है। 'उर्दू गाइड' लिखता है - ''1857 में जब हिन्दुस्तान में बलवा हुआ तो इसकी इब्तेदा वहाँ इस तरह हुई के माह अप्रैल में चन्द इश्तेहार जेहाद तख्त देहली की तरफ से मुल्क भोपाल में तकसीम हुए। नवाब सिकंदर जहां बेगम साहिबा ने इस रपट को पाते ही साहब अजन्ट को तलब फरमाकर दरपे तदारुक हुई और जून के महीने में बेगम साहिबा ने सुराग लगाकर पता पाया के एक शख्स जमादार फौज की जमीअत कर रहा है। इस खबर को पाते ही उसको गिरफ्तार कर लिया और शहर बदर करने का हुक्म दिया। जुलाई के महीने में जब होलकर ने बलवा किया और साहब लोग भागकर भोपाल आए तो बेगम साहिबा ने बाहिफाजत तमाम हुशंगाबाद तक पहुँचा दिया। बावजूद के उनके कराबतदार और बुजराअ का एक तबका खिलाफ था। ताहम बेगम साहिबा ने इस्तिकबाल नहीं छोड़ा और बिलाखिर अपने कराबतदारों और फौज कंटिंजेंट के असलहदारों में 149 आदमियों को जो बानी-ए-फसाद थे, सजा-ए-संगीन दी।''

सन 1867 में प्रेस एण्ड रजिस्ट्रेशन ऑफ बुक्स एक्ट लागू किया गया। यह 1835 के कानून के स्थान पर था। इसका उद्देश्य प्रिंटिंग प्रेस और समाचार पत्रों के लिए पंजीकरण प्रणाली का नियमन तथा पुस्तकों, समाचार पत्र-पित्रकाओं सहित विविध प्रकाशित सामग्री की प्रतियाँ सुरक्षति रखना बताया गया। (कतिपय संशोधनों के साथ यह कानून अभी भी लागू है।)

उस दौर के उपलब्ध पत्रों का अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि भारतीयों द्वारा संचालित प्रेस अधिकाधिक राष्ट्रीयता से ओतप्रोत और फिरंगी हुकूमत का कटु आलोचक होता गया। इससे हुकूमत परेशान थी। तब सन 1870 में भारतीय दंड संहिता (आईपीसी) में धारा 124-ए जोड़ी गई। इस धारा के अंतर्गत कथित राजद्रोही लेखन और भाषण को दण्डनीय अपराध करार दे दिया गया। इसके बावजूद कानून की अपर्याप्तता पर अँगरेज अफसर बहस चला रहे थे। सन 1876-77 के बांग्ला अखबारों-अमृतबाजार पित्रका, भारत मिहिर, साधारणी, समाज दर्पण, सोमप्रकाश के अनेक उदधरण पेश किए गए। इस तरह एक और कानून की बुनियाद तैयार हुई।

14 मार्च 1878 को वायसराय लार्ड लिटन ने भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों के दमन के लिए वर्नाकुलर प्रेस एक्ट लागू किया। लार्ड लिटन ने इस कानून की जरूरत जतलाते हुए कहा - ''लेकिन सबसे अधिक साहसी राजद्रोह उत्तरभारत के भाषायी पत्रों में लिखा जा रहा है। एक मराठा राजधानी से प्रकाशित 'मालवा अख़बार' का एक पैराग्राफ बहुत चुभता हुआ है। इसमें एक अफवाह का जिक्र है, जिसने बम्बई के व्यापार और बाजार को प्रभावित किया है कि नाना साहब रूसी सेना के साथ भारत पर आक्रमण करना चाहते हैं और फिर वे जार की सहायता से पेशवाओं के पुराने राज्य - सातारा, बड़ौदा, नागपुर, झांसी आदि को सामन्तवादी राज्य के रूप में बनाना चाहते हैं, जो पेशवाओं के सार्वभौम अधिकार को स्वीकार करेगा। इसी पत्र में पन्द्रह दिन बाद अँगरेजी राज्य के बुरे समय और अंधकारमयी दिनों की बात करता है और कहता है कि पिछली रात हमने एक सपना देखा जिसमें एक हिरन ने एक शेर और एक बाघ को अपने कब्जे में कर रखा था।.... और ये सब होल्कर की राजधानी से प्रकाशित होता है और इसमें संदेह नहीं कि हर एक दरबार में और मध्य भारत के हर एक बाजार में पढ़ा जाता है।'' जब होल्कर नरेश को वायसराय की नाराजगी का पता चला तो 'मालवा अख़बार' के संपादक को गिरफ्तार कर तीन महीने कैद की सजा दी गई और अखबार बंद कर दिया गया।

वर्नाकुलर प्रेस एक्ट में मजिस्ट्रेट को यह अधिकार दिया गया था कि वे किसी समाचार लेख आदि के प्रकाशन पर प्रतिबंध लगा सकते थे। अखबारों से जमानत माँग सकते थे और जब्त कर सकते थे। ऐसी किसी भी कार्रवाई को अदालत में चुनौती नहीं दी जा सकती थी। अँगरेजी अखबारों पर यह कानून लागू नहीं होता था। 'अमृत बाजार पित्रका' के संपादक मतिलाल घोष ने वर्नाकुलर प्रेस एक्ट के चंगुल से बचने के लिए रातोंरात पित्रका को अँगरेजी अखबार बना दिया। भारत मिहिर, ढाका प्रकाश, ढाका हितैषिणी,

सुलभ समाचार और सहचर से बाण्ड भरने को कहा गया। सोमप्रकाश से भी बाण्ड भरने को कहा गया था लेकिन उसने बाण्ड भरने के बजाय अखबार को बंद करना उचित माना। लार्ड लिटन का भाषायी प्रेस की रीढ़ तोड़ने का इरादा तो सफल नहीं हो सका, परंतु वर्नाकुलर प्रेस एक्ट देशभर में तीखी आलोचना और जागृति का सबब ज़रूर बन गया।

लिटन के स्थान पर लार्ड रिपन वायसराय बना तब 10 जनवरी 1882 को वर्नाकुलर प्रेस एक्ट समाप्त हो गया। सन 1889 में 'अमृत बाजार पित्रका' ने ब्रिटेन के विदेश सचिव एच.एम. डूरण्ड का एक गोपनीय नोट प्रकाशित कर दिया और यह टिप्पणी की कि कश्मीर के महाराजा को प्रजा पर अत्याचार करने के कारण नहीं हटाया गया है, बल्कि इसका असली कारण यह है कि ब्रिटिश सरकार को सामरिक महत्व के कारण गिलगित चाहिए था। कुपित फिरंगी हुकूमत ने 17 अक्टूबर 1889 को सरकारी गोपनीयता का कानून (आफीशियल सीक्रेट एक्ट) लागू कर दिया। सन 1891 में सरकार ने भारतीय रियासतों से छपने वाले अखबारों का नियंत्रण वहाँ के पोलिटिकल एजेण्टों को सौंप दिया। उन्हें संपादकों, प्रकाशकों, मुद्रकों को रियासत बदर करने तक का अधिकार दिया गया।

लोकमान्य तिलक के 'केसरी' (1881) के खिलाफ कार्रवाई का सिलसिला 1882 में शुरू हो गया था। कोल्हापुर रियासत की दुर्नीति के विरुद्ध लिखने पर दीवान माधवराव बर्बे ने तिलक और उनके सहयोगी गोपाल गणेश आगरकर के विरुद्ध अपमानजनक लेख लिखने का मुकदमा चलाया। दोनों को चार-चार माह की सादी कैद की सजा सुनाई गई। सन 1897 में जब दामोदर हरि चाफेकर ने प्लेग आफीसर रैण्ड का खून कर दिया, तत्संबंधी टिप्पणी पर तिलक पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया और उन्हें डेढ़ साल की सजा हुई। परन्तु 'केसरी' डरा नहीं, झुका नहीं। उसकी दहाड़ में कोई कमी नहीं आई। सन 1908 में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक को राजद्रोह के आरोप में फिर छह वर्ष के कारावास की सजा सुनाई गई। उन्हें मांडले की जेल में रखा गया। इसी कालावधि में तिलक ने 'गीता रहस्य' जैसे अमर ग्रंथ की रचना की। इस सजा के प्रसंग में केलकर ने तिलक को 'सूर्य' और दावर को 'खद्योत' (जुगनू) की उपमा दी, तब केलकर को भी 29 सितंबर 1908 को एक हजार रुपये जुर्माना, 200 रुपये कोर्ट खर्च और 14 दिन की कैद की सजा दी गई। ग्वालियर, इंदौर और हैदराबाद की रियासतों में 'केसरी' पर प्रतिबंध लगा दिया गया। 'लंदन टाइम्स' के संवाददाता वैलेन्टाइन शिरोल ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन अनरेस्ट' में तिलक को 'फादर आफ इण्डियन अनरेस्ट' करार दिया है।

न तो स्वतंत्र चेता संपादकों की आलोचनाओं का स्वर और अन्याय-अत्याचारों पर तीखे प्रहार का हौसला कमजोर पड़ रहा था और न ही हुकूमत के कानूनी दाँव पेचों में कठोरता की भूख शांत हो पा रही थी। सन 1903 में आफीशियल सीक्रेट एक्ट में संशोधन कर सिविल मामलों को भी सैन्य मामलों के समान गंभीर अपराध बना दिया गया। सरकारी दफ्तरों

में अनधिकृत प्रवेश को अपराध करार दिया गया। दण्ड प्रक्रिया संहिता (सी.आर.पी.सी.) 1898 में धारा 108, उप धारा 99 (अ और ग) जोड़कर सरकार को यह अधिकार दिया गया कि वह आई.पी.सी. की धारा 124-अ, 153-अ और 295-अ के प्रावधानों का उल्लंघन करने पर संबंधित प्रकाशनों की जाँच और उनको जब्त कर सकेगी। भारतीय दण्ड संहिता (आई.पी.सी.) 1898 में धारा 153-ए जोड़ी गई जो विभिन्न वर्गों के बीच वैमनस्य भड़काने के अपराध के लिए थी। आठ जून 1908 को एक और कानून लागू किया गया -समाचार पत्र (अपराधों का भड़काना) कानून-1908। इस कानून को और धार देने के लिए इण्डियन प्रेस एक्ट 1910 लागू कर प्रेस से सेक्युरिटी जमा कराने और उसे जब्त करने का अधिकार शासन ने हस्तगत कर लिया।

सन 1907 में दीपावली के समय उर्दू साप्ताहिक 'स्वराज' का प्रकाशन शांतिनारायण भटनागर के संपादकत्व में आरंभ हुआ। यह तेजस्वी पत्र हुकूमत से मुठभेड़ करता हुआ कुल ढाई साल तक निकला। इस बीच 'स्वराज' के आठ संपादक हुए। हैरतअंगेज तथ्य यह कि संपादकों को कुल जमा 94 वर्ष की सजा हुई। तीन को काला पानी और बाकी को कठोर कारावास। 'स्वराज' के पहले पन्ने पर यह विज्ञापन दिया जाता था-''स्वराज के लिए एक एडिटर चाहिए जो अँगरेजी और उर्दू का विद्वान हो। जिसका एक पैर स्वराज के दफ्तर में और दूसरा जेल में हो। तनख्वाह जौ की दो रोटी और एक प्याला पानी। इससे ज्यादा जो उसकी तकदीर में हो।'' फिरंगी हुकूमत ने 1910 के प्रेस एक्ट में 'स्वराज' का गला घोंटा। दुनिया की पत्रकारिता के इतिहास में 'स्वराज' के समतुल्य संघर्षशीलता का दूसरा उदाहरण नहीं मिलता।

तीखे लेखों के कारण 22 अगस्त 1908 को 'हिंदी केसरी' के संपादक माधवराव सप्रे और 'देश सेवक' के संपादक अच्युतराव कोल्हटकर को धारा 124-ए में गिरफ्तार कर लिया गया। अमृतबाजार पित्रका के दो जुलाई 1909 के अंक में ब्रिटिश संसद में सर हेनरी काटन द्वारा माँगी गई जानकारी के आधार पर लंदन के अखबार 'इण्डिया' को उद्धृत करते हुए लिखा गया - ''एक जनवरी 1907 से उकसाने वाले जिन 58 लेखों और भाषणों पर मुकदमे चलाए गए, उनके विवरण से यह तथ्य उजागर हुआ कि दो साल से भी कम समय में 50 से 60 भारतीय पत्रकारों को कैद की सजा हुई। इन सब सजाओं की कुल मियाद 150 साल होती है। भारी जुर्माने की रकम इसके अलावा रही। कुछ मामलों में तो प्रेस को भी राजसात कर लिया गया। इन सजा पाए पत्रकारों में कई तो युवा ही थे। उनमें से अधिकांश को सश्रम कारावास की सजा मिली। कुछ को देश निकाला दिया गया। कहना न होगा कि ये मुकदमे ऐसे ताबड़तोड़ ढंग से चलाए गए कि भारत में अशांति के जनक बने।''

सन 1908 में इलाहाबाद के 'हिंदी प्रदीप' को तीन हजार रुपये की जमानत माँगने पर बंद हो जाना पड़ा। बालकृष्ण भट्ट का 'हिंदी प्रदीप' हिन्दी का पहला राजनीतिक पत्र माना जाता है। उसमें माधव शुक्ल विरचित कविता 'बम क्या है?'

प्रकाशित हुई थी। वह बंग भंग विरोधी आंदोलन का दौर था। महामना मदनमोहन मालवीय के 'अभ्युदय' को भी बार-बार प्रताड़ना का निशाना बनाया गया।

सन 1919 में लोमहर्षक जलियांवाला बाग नरसंहार के समय भारतीय प्रेस को फिरंगी हुकूमत की बर्बर रीति-नीति का सामना करना पड़ा। 'बाम्बे क्रानिकल' के संपादक बेंजामिन हार्मिनान को इसलिए भारत-भूमि से विदा कर दिया गया, क्योंकि उन्होंने पंजाब में मार्शल-ला की ज्यादतियाँ उजागर की थीं। उनकी आलोचना की थी। जब भारत के प्रमुख संपादकों - 'बंगाली' के सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, 'न्यू इण्डिया' के मतिलाल घोष, 'हिंदू' के एस.के.आर. अय्यंगार, 'लीडर' के सी.वाय. चिन्तामणि और इंडिपेंडेंट के सैयद हुसैन ने पंजाब के हालात की जाँच-पड़ताल कर स्वतंत्र रिपोर्ट प्राप्त करने के लिए उन सबकी ओर से सी.एफ. एण्डूज को पंजाब भेजने का फैसला किया, तब उनके पंजाब में प्रवेश पर ही पाबंदी लगा दी गई। मौलाना आजाद के 'अल हिलाल' और 'अल विलाग' को भी बंद हो जाना पड़ा। उन्हें बंगाल से निर्वासित कर दिया गया।

गणेश शंकर विद्यार्थी के 'प्रताप' को कदम-कदम पर अवरोधों का सामना करना पड़ा। प्रताप प्रेस, संपादक और प्रकाशक के घरों की तलाशी ली गई। सामान जप्त किया गया। समाचार पत्रों पर सरकार की ज्यादतियों के खिलाफ 'प्रताप' ने 19 जून 1916 को संपादकीय टिप्पणी लिखी-''एक दिन था कि प्रेस एक्ट के जन्म पर कुछ देशवासियों ने संतोष प्रकट किया था। उन देशवासियों में महात्मा गोखले और मि. मजहरुल हक तक थे। पर आज हवा का रुख पलट गया है। जिन्होंने उस दिन संतोष माना था, वे आज अपने उस दिन के संतोष से बहुत असंतुष्ट हैं। मुसलमान पत्रों में से बहुतों ने एक्ट का स्वागत किया था, परन्तु उस एक्ट की तलवार उन मुसलमान पत्रों पर गिरी। जब जमींदार, हमदर्द, कामरेड, अलहिलाल आदि का गला धर कर घोंट दिया तब मुसलमानों ने प्रेस एक्ट को बुरा-भला कहना आरंभ किया। धीरे-धीरे देश के सैकड़ों पत्र इस कानून के पंजे में पड़ कर मर गए। अमृत बाज़ार, केसरी आदि पत्रों को बड़ी-बड़ी जमानतों के नीचे दब जाना पड़ा। परन्तु इसके सिवा कि पत्रों में प्रेस एक्ट के विरुद्ध दो-चार खरी-खोटी बातें कह दी गई हों और अधिक कुछ भी नहीं हुआ। परन्तु आज समय की गति ने पलटा खाया है। जब से मिसेज बीसेण्ट के पत्र 'न्यू इंडिया' से दो हजार की जमानते ली गई तब से देश में इसका तीव्र विरोध हो रहा है। इस विरोध का बड़ा भारी कारण है। अभी तक यह समझा जाता था कि प्रेस एक्ट की तीक्ष्ण तलवार उन्हीं देशी पत्रों की गर्दन पर पड़ती है जो अपने साहस के कारण अधिकारियों की नजर में खटक जाते हैं। परन्तु 'न्यू इंडिया' से जमानत ली जाने पर लोगों के इस ख्याल में एक बड़ा धक्का लगा।''

'इण्डियन एग्रीमेण्ट' नाम के उपयोगी मासिक पत्र से एक हजार की जमानत तलब की गई। 'जस्टिस' पत्र जमानत माँगने पर बंद हो गया। मराठी साप्ताहिक 'महाराष्ट्र' को आरंभ में ही जमानत भरना पड़ गई। श्रीयुत तोताराम सनाढ्य की फीजी वाली पुस्तक तथा लार्ड हार्डिंग्ज के

भाषण के आधार पर कुली प्रथा के विरुद्ध उसमें एक लेख निकला था। उसी कारण उससे जमानत की मद में 1500 रुपये माँगे गए। पत्र ने इस जबरदस्ती के ऋण को न देना चाहा, इसलिए उसका अन्त हो गया।''

26 अक्टूबर 1916 को प्रताप प्रेस से छपी पुस्तक 'कुली प्रथा' को सरकार ने जप्त कर लिया। 30 अक्टूबर को प्रेस से 1000 रुपये की जमानत माँगी गई। 22 अप्रैल 1918 को नानक सिंह हमदम की कविता 'फ़िदा-ए-वतन' छापने के कारण जमानत जप्त कर ली गई। सन 1919 में करतारपुर मामले को आधार बनाकर 'प्रताप' से फिर 2000 रुपये की जमानत माँगी गई। जनवरी 1921 में रायबरेली के किसान आंदोलन और मुंशीगंज गोलीकाण्ड की रिपोर्ट तथा संपादकीय छापने पर 'प्रताप' फिर कानूनी कार्रवाई का शिकार बनाया गया। विद्यार्थी जी ने माफी माँगने के बजाय जेल जाने का मार्ग चुना। 'प्रताप' से 3000 रुपये की जमानत और मुचलका माँगा गया। 17 नवंबर 1926 को थानेदार शिवदयाल सिंह के कारनामों पर विस्तृत रिपोर्ट छापने के मामले में विद्यार्थी जी और प्रकाशक सुरेन्द्र शर्मा को चार-चार सौ रुपये जुर्माना तथा छह-छह माह सादी कैद की सजा सुनाई गई।

'संदेश' प्रेस को पाँच बार राजसात किया गया। पराडकर जी के 'आज' के प्रकाशन में भी बाधा डाली गई। पराडकर जी ने विकल्प में 'रणभेरी' का प्रकाशन कर फिरंगी हुकूमत को चुनौती दी।

दादा माखनलाल चतुर्वेदी का 'कर्मवीर' तो निकला ही गौरांगशाही के विरोध में था। जब वे 'कर्मवीर' का घोषणा पत्र दाखिल करने जिला मजिस्ट्रेट मिथाइस के पास गए, तब मिथाइस ने सवाल किया-''एक अँग्रेज़ी वीकली के होते हुए आप हिंदी साप्ताहिक क्यों निकालना चाहते हैं?'' माखनलाल जी का जवाब था-''आपका अँगरेजी पत्र तो दब्बू है, मैं वैसा पत्र नहीं निकालना चाहता हूँ। मैं ऐसा पत्र निकालना चाहता हूँ कि ब्रिटिश शासन चलते-चलते रुक जाए।'' सागर के पास रतौना में जब कसाईखाना खोलने का लायसेंस सूबे की सरकार ने दे दिया, तब 'कर्मवीर' के प्रबल विरोध करने के कारण हुकूमत को अपना कदम वापस लेना पड़ा था। राजद्रोह का आरोप लगाकर जमानत माँगे जाने पर 'कर्मवीर' का प्रकाशन दो बार स्थगित हुआ। इन्दौर रियासत में 'कर्मवीर' के प्रवेश पर ही प्रतिबंध था।

पटियाला, रियासत में 'अमृत बाज़ार पित्रका' और हैदराबाद रियासत में 'हिंदू' पर प्रतिबंध लगा। सन 1923 में 'नवयुवक' के संपादक कल्याण जी मेहता को धारा 124-ए में दो साल के कठोर कारावास की सजा हुई। 'लाहौर' के संपादक गुलाम हुसैन, 'अकाली ते परदेशी' के संपादक सरदार दीवान सिंह, 'रंगून मेल' के संपादक और 'बम्बई खिलाफत' के संपादक मौलाना अब्दुल गनी को एक-एक साल की कैद की सजा हुई।

सन 1925 में आगरा से प्रकाशित 'सैनिक' और उसके संपादक श्रीकृष्णदत्त पालीवाल को भी बार-बार जप्ती, जुर्माना और जेल की सजा भुगतनी पड़ी। सन 1930 और 1932 में सैनिक से जमानत माँगी गई। परंतु उसने जमानत भरने

के बजाय प्रकाशन स्थगित कर दिया। 16 जुलाई 1940 को 'सैनिक' प्रेस पर ताला डालकर पहरा बैठा दिया गया। 74 दिन तक यह तालाबंदी चली। सन 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के सिलसिले में कांग्रेस के दो प्रस्ताव छापने पर 'सैनिक' फिर बंद हुआ।

एक सितंबर 1938 को त्रावणकोर पुलिस ने 'मलयाला मनोरमा' का दफ्तर सील कर दिया। पत्र के प्रकाशन की अनुमति निरस्त कर दी। तब पड़ोसी रियासत कोचीन से 'मलयाला मनोरमा' का प्रकाशन करना पड़ा।

महात्मा गांधी का 'हरिजन' भी 1942 में बंद करना पड़ा था। प्रेमचंद के 'हंस' से 1930 में 1000 रुपये की जमानत माँगी गई। पाँच महीने तक 'हंस' बंद रहा। प्रेमचंद के 'जागरण' ने भी जमानत की मार झेली।

ये तो कुछ उदाहरण मात्र हैं। स्वाधीनता संग्राम में सैकड़ों की संख्या में पत्र और पत्रकार फिरंगी हुकूमत के दमनचक्र का शिकार हुए। पर उनके बुलंद हौसलों ने हार नहीं मानी। संघर्ष का मार्ग नहीं त्यागा। ऐसे ही कलम के योद्धाओं के लिए महाकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' का आह्वान एकदम सटीक है-

''कलम आज उनकी जय बोल।''

❖❖

शोधावरी मासिक व्याख्यान

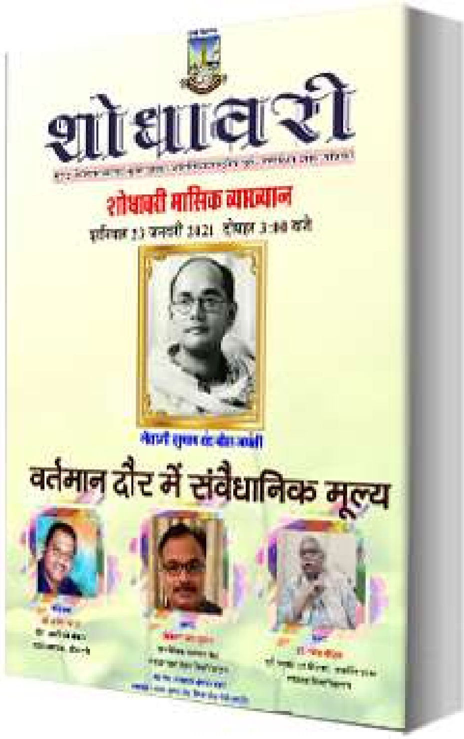

वर्तमान दौर में संवैधानिक मूल्य

कोरोना काल की संध्या में जनवरी माह में शोधावरी के मासिक व्याख्यान हेतु प्राध्यापक, चिंतक तथा अपने जीवन मूल्यों के लिए संघर्ष करने वाले डॉ. रमेश दीक्षित ने गणतंत्र दिवस के उपलक्ष्य में वर्तमान समय में संवैधानिक मूल्य विषय पर व्याख्यान प्रस्तुत किया। व्याख्यान के संयोजक एवं शोधावरी के प्रधान संपादक डॉ. राजेश खरात ने प्रोफ़ेसर दीक्षित का परिचय देते हुए जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के दिनों की स्मृति ताज़ा की। प्रोफ़ेसर खरात ने व्याख्यान के अध्यक्ष प्रोफ़ेसर नरेंद्र कुमार का भी परिचय देते हुए स्वागत किया। प्रोफ़ेसर नरेंद्र कुमार जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के राजनीतिक अध्ययन केंद्र के वर्तमान अध्यक्ष हैं।

डॉ. रमेश दीक्षित ने अपने विस्तृत वक्तव्य में बड़े ही सरल और सधे हुए अंदाज़ में भारतीय संविधान में निहित मूल्यों की सार्थक व्याख्या करते हुए वर्तमान समय में उन मूल्यों पर जो संकट गहराए हुए हैं, उनकी समीक्षा की। प्रोफ़ेसर दीक्षित ने बताया कि संविधान के प्रिएम्बल में बंधुत्व शब्द डॉ. बाबासाहब आंबेडकर ने यह कहते हुए शामिल करवाया कि लोकतंत्र में जब तक भारतीय जनमानस में बंधुता का भाव उत्पन्न नहीं होगा तब तक समानता और न्याय की बात करना बेमानी होगा।

राज्य (State) और सरकार (Government) की अवधारणा स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि राज्य एक स्थायी व्यवस्था है जबकि सरकारें तयशुदा अवधि हेतु निर्वाचित होती हैं। सरकार के कामकाज की समीक्षा, आलोचना करते रहना भी लोकतान्त्रिक मूल्यों की रक्षा का एक तरीक़ा है। किंतु जब सरकारें ख़ुद को राज्य से ऊपर समझने लगें और सरकार की आलोचना को राज्य की आलोचना

माना जाने लगे तब संवैधानिक मूल्यों पर संकट छा जाता है। ऐसे में प्रत्येक जागरूक नागरिक का यह फ़र्ज बनता है कि वह संवैधानिक मूल्यों की रक्षा और राज्य की अस्मिता के लिए अपने स्तर पर हरसंभव प्रयास करे। नेहरू और आंबेडकर के उदाहरणों के माध्यम से प्रोफ़ेसर दीक्षित ने भारतीय संविधान की निर्माण प्रक्रिया और संवैधानिक सभा की बहसों का हवाला देते हुए संवैधानिक मूल्यों के प्रति संविधान निर्माताओं की प्रतिबद्धता, आस्था और वैचारिक सामंजस्य पर प्रकाश डाला।

प्रोफ़ेसर नरेंद्र कुमार ने प्रोफ़ेसर दीक्षित के वक्तव्य को आगे बढ़ाते हुए संवैधानिक मूल्यों पर मौजूदा संकट का विश्लेषण किया। मूलभूत अधिकारों, मूलभूत कर्तव्यों तथा राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के साथ ही संविधान की प्रस्तावना के प्रत्येक मूल्य को उन्होंने सोदाहरण स्पष्ट किया।

दोनों ही विद्वान वक्ताओं ने एक स्वर में अपील की कि प्रत्येक शिक्षित व जागरूक नागरिक का राष्ट्रीय दायित्व है कि वह भारतीय लोकमानस के बीच जाकर उनसे आत्मीय संबंध स्थापित करते हुए संवैधानिक मूल्यों से परिचित कराए। राजनीतिक रूप से सजग, शिक्षित और प्रशिक्षित जन ही जनतंत्र की असली ताक़त है।

शोधावरी की सह संपादक डॉ. भाग्यश्री वर्मा ने अतिथि वक्ताओं के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त किया।

❖❖

नारायण दत्त स्मृति व्याख्यानमाला

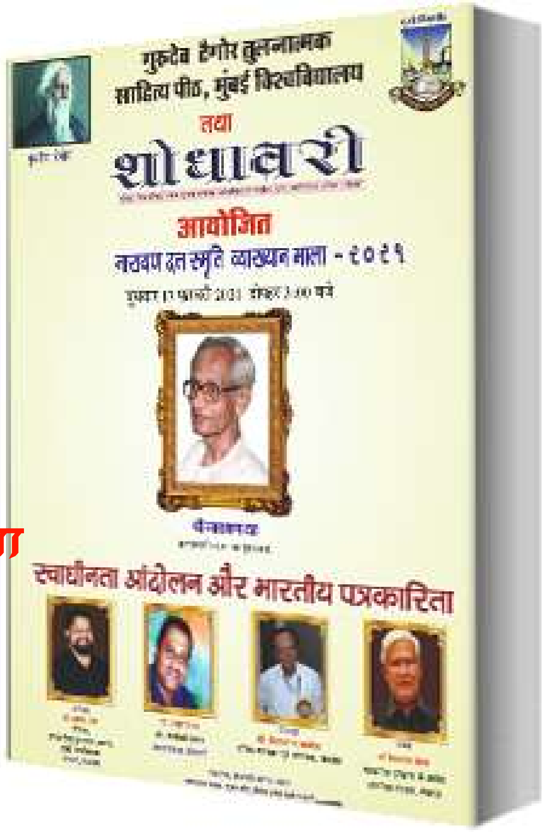

प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष भी 17 फ़रवरी को नारायण दत्त स्मृति व्याख्यानमाला का आयोजन किया गया। महामारी के दौर में यह व्याख्यान ऑनलाइन आयोजित किया गया। नारायण दत्त जी की ही कुल परंपरा के पत्रकार तथा पत्रकारिता के इतिहासकार श्री विजयदत्त श्रीधर जी ने स्वाधीनता आंदोलन और भारतीय पत्रकारिता विषय पर अपने विस्तृत एवं सुचिंतित विचार पूरी स्पष्टता से प्रस्तुत किए। व्याख्यान की अध्यक्षता नवनीत मासिक पित्रका के संपादक तथा वरिष्ठ पत्रकार श्री विश्वनाथ सचदेव जी ने की। उन्होंने नारायण दत्त जी के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए उनकी संपादन कला एवं पत्रकारिता दृष्टि पर अपनी बात कही।

श्रीधर जी ने स्वाधीनता आंदोलन के दौरान कई भारतीय पत्रकारिता और उत्कृष्ट पत्रकारों का सार्थक विवेचन प्रस्तुत किया। उनका संपूर्ण व्याख्यान एक जीवंत दस्तावेज़ है जिसे हम इस अंक में प्रकाशित कर रहे हैं।

शोधावरी मासिक व्याख्यान के तहत आयोजित इस ऑनलाइन व्याख्यान में शोधावरी के प्रधान संपादक प्रोफ़ेसर राजेश खरात तथा लखनऊ विश्वविद्यालय के राजनीति विभाग के सेवानिवृत्त प्रोफ़ेसर रमेश दीक्षित की उपस्थिति ने आयोजन की गरिमा बढाई।

वर्तमान समय में जबकि अधिकतम पत्रकारिता का अधिकतम पतन हो चुका है और पत्रकारिता के सभी रूप अपने मूल उद्देश्य से भटक कर दिशाहीन हो चुके हैं ऐसे संकटग्रस्त माहौल में अतीत से जुड़ना जितना सार्थक है उतना ही आवश्यक भी। उपस्थित श्रोताओं की शंकाओं और प्रतिक्रियाओं से व्याख्यान को बल मिला।

❖❖

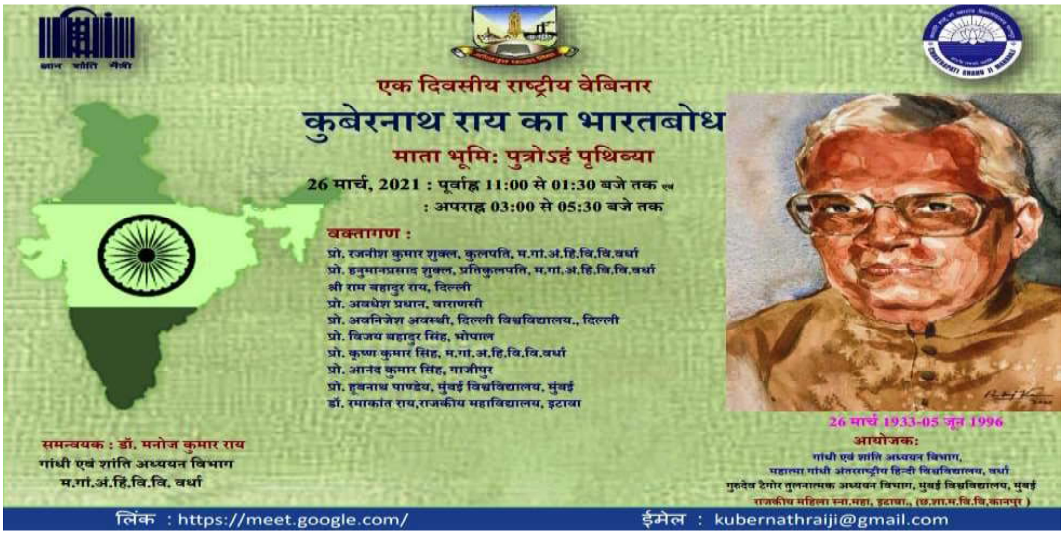

कुबेरनाथ राय का भारतबोध

२६ मार्च 2021 को हिंदी के चिंतक ललित निबंधकार कुबेरनाथ राय के जन्मदिवस के उपलक्ष्य में एक दिवसीय राष्ट्रीय वेबिनार का आयोजन किया गया। महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, इटावा तथा गुरुदेव टैगोर तुलनात्मक साहित्य अध्यासन, मुंबई विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित संगोष्ठी में कुबेरनाथ राय का भारतबोध विषय पर कुल दस विद्वान वक्ताओं ने अपने विचार रखे।

श्री कुबेरनाथ राय ने अपनी समस्त सृजनात्मक प्रतिभा सिर्फ.एक विधा ललित निबंध को समर्पित कर दी। ललित निबंधों के अतिरिक्त प्रबंधात्मक, चिंतनात्मक तथा आलोचनात्मक निबंध तथा एक काव्य संग्रह कंथामणि से भी हिंदी साहित्य को समृद्ध किया। श्री राय के समस्त लेखन की धुरी रही है भारतीयता की संकल्पना। उनके लेखन का आरंभ ही भारत - चिंता से हुआ। अपने पहले संग्रह 'प्रिया नीलकंठ' से लेकर अंत तक वे परंपरा, संस्कृति, साहित्य और लोक के माध्यम से भारत और भारतीयता की खोज और व्याख्या करते रहे। उनकी सृजनयात्रा कोई स्वातं:सुखाय या मौजशौक़ की काव्यशास्त्र विनोद वाली ख़ुशगवार यात्रा नहीं थी बल्कि उनके अंतर का आर्तनाद थी। श्री राय की स्पष्ट स्थापना थी कि भारतीयता सिर्फ. आर्यपरंपरा का दाय नहीं है बल्कि यह आर्य अनार्य का संयुक्त अवदान है।

महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के कुलपति प्रोफ़ेसर रजनीश कुमार शुक्ल ने अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में श्री राय के भारतबोध के दार्शनिक पक्ष का सारगर्भित विवेचन किया।

महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के प्रति कुलपति प्रोफ़ेसर हनुमानप्रसाद शुक्ल ने श्री राय के ललित निबंधों के सार्थक विश्लेषण के

माध्यम से भारतबोध की अवधारणा स्पष्ट की।

प्रमुख वक्ताओं में श्री रामबहादुर राय, प्रो. अवधेश प्रधान, प्रो. अवनिजेश अवस्थी, प्रो. विजय बहादुर सिंह, प्रो. कृष्णकुमार सिंह, प्रो. आनंद कुमार सिंह, डॉ. रमाकांत राय तथा प्रो. हूबनाथ पांडेय ने विभिन्न दृष्टिकोणों से श्री कुबेरनाथ राय के समस्त लेखन में अभिव्यक्त भारतबोध का समीक्षात्मक विवेचन किया।

संगोष्ठी का संचालन एवं समन्वयन गांधी शांति अध्ययन विभाग के प्रोफ़ेसर मनोज कुमार राय ने बड़ी सहजता और विद्वता से किया तथा डॉ रमाकांत राय ने आभार प्रकट किया।

इस एक दिवसीय वेबिनार का प्रतिफल है श्री कुबेरनाथ राय पर केंद्रित शोधावरी का प्रस्तुत विशेषांक।

❖❖

शब्दप्रहरी कुबेरनाथ राय

● डॉ. मनोज कुमार राय

साहित्य जगत में प्राय: श्री कुबेरनाथ राय के योगदान को साहित्य की एक खास विधा ललित-निबंध से जोड़कर देखने की रही है। बहुत हुआ तो ललित-निबंध के लिए प्रसिद्ध स्वयंभू 'त्रयी' के एक महत्वपूर्ण लेखक रूप चर्चा कर इतिश्री कर ली जाती है। मुझे लगता है कि श्री राय के द्वारा संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में उनके दिये गए अप्रतिम योगदान को और वृहत्तर रूप में देखने की जरूरत है। डॉ. अजय अनजान की सद्य: प्रकाशित पुस्तक 'शब्द प्रहरी कुबेरनाथ राय' इस कमी को पूरा करने का एक सार्थक प्रयास है। लेखक ने सच ही लिखा है कि "उन्हें देश की जातीय और सांस्कृतिक विरासत की विशेष चिंता रही है और वे उसे निरन्तर अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं।"

श्री कुबेरनाथ राय का लेखन सोद्देश्य हैं। वे लिखते हैं, "मेरा उद्देश्य रहा है हिन्दी-पाठक के हिंदुस्तानी मन को विश्वचित्त से जोड़ना और उनको मानसिक ऋद्धि प्रदान करना। मेरे निबंध 'भारतीय मन और विश्वमन' के बीच एक सामंजस्य उपस्थित करने की कोशिश करते हैं।" इस प्रतिबद्धता के पीछे उनकी यह निर्भ्रांत समझ है कि 'मनुष्य की सार्थकता उसकी 'देह' में नहीं, उसके 'चित्त' में है। उसके चित्त गुण को उसकी सोचने-समझने और अनुभव करने की क्षमता को विस्तीर्ण कराते चलना ही 'मानविकी' के शास्त्रों का, विशेषत: साहित्य का मूलधर्म है।" इस धर्म के निर्वहन और विषय के अनुरूप कुछ कम प्रचलित शब्दों का प्रयोग उनके साहित्य में देखने को मिलता है। इस बिना पर श्री राय साहब की भाषा के संबंध में यह प्रचारित कर दिया गया है कि वे प्राय: क्लिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं। इसका निराकरण करते हुए उन्होंने स्वयं लिखा है, "निबंधकार का एक मुख्य कर्तव्य होता है पाठक की मानसिक ऋद्धि और बौद्धिक क्षितिज का विस्तार करना। मेरे सम्पूर्ण साहित्य में इस कोटि के दो दर्जन से ज्यादा

नहीं। इतना किसने नहीं किया है!... मैंने जहाँ-जहाँ ऐसा किया है वहाँ उसी वाक्य में या आगे उसका अर्थ खोलता गया हूँ।” सच तो यह है कि आधुनिक पीढ़ी का अपनी विरासत और लोक से परिचय ही नाम मात्र का रह गया है। ऐसे दरिद्र शब्द-भंडार लेकर श्री राय के निबंध-कांतार की यात्रा दुर्गम तो होगी ही। श्री राय ने अपने एक निबंध ‘भाषा बहता नीर’ में भाषा को ‘एक प्रवहमान नदी’ ‘बहते हुए जल’ की संज्ञा दी जो बावन तोले पाव रत्ती सही है। दरअसल उनका यह कथन भाषा की बहुसमावेशक क्षमता की ओर संकेत करता है। भाषा का पाट जब चौड़ा होता है तब वह बहुत कुछ को अपने में समेटते-मिलाते हुए गतिमान होती है। इस प्रक्रिया में विवेक के साथ शब्दों का संग्रह-त्याग भी चलता रहता। दरअसल श्री राय ‘मन के दरिद्रीकरण या वंध्याकरण को ही रोकने के लिए नहीं प्रयास-रत थे, भाषा के दरिद्रीकरण और वन्ध्याकरण को समाप्त करने के लिए भी उद्यत थे।’ वे लिखते भी हैं, “मैं गाँव-गाँव, नदी-नदी, वन-वन घूम रहा हूँ। मुझे दरकार है भाषा की। मुझे धातु जैसी ठन-ठन गोपाल टकसाली भाषा नहीं चाहिए। मुझे चाहिए नदी जैसी निर्मल झिरमिर भाषा, मुझे चाहिए हवा जैसी अरूप भाषा। मुझे चाहिए उड़ते डैनों जैसी साहसी भाषा, मुझे चाहिए काक-चक्षु जैसी सजग भाषा, मुझे चाहिए गोली खाकर चट्टान पर गिरे गुर्राते हुए शेर जैसी भाषा, मुझे चाहिए भागते हुए चकित भीत मृग जैसी ताल-प्रमाण झंप लेती हुई

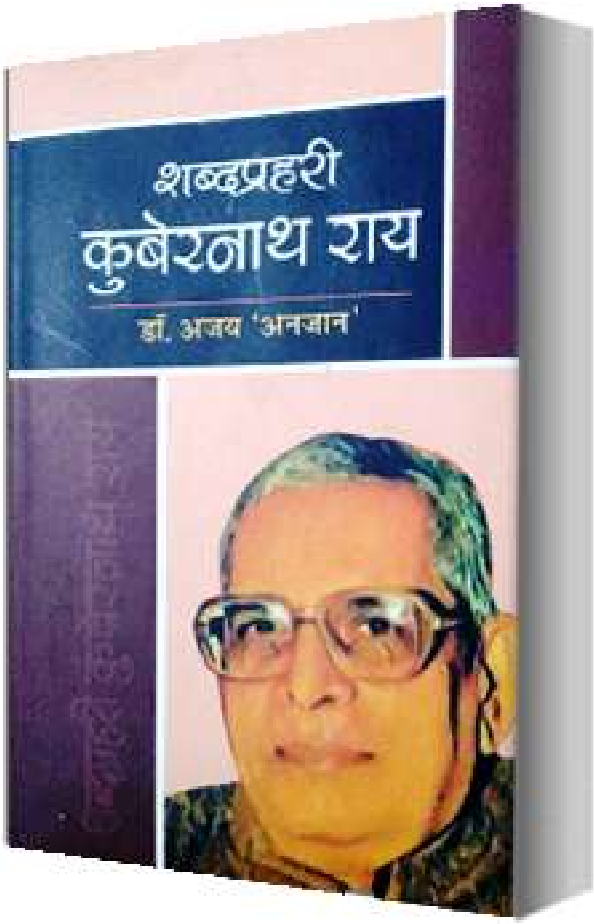

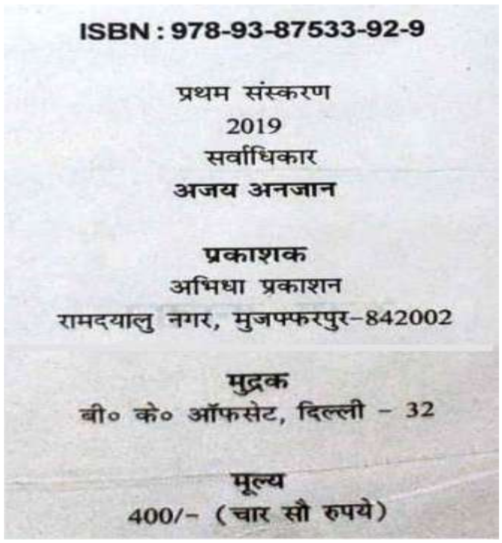
ISBN : 978-93-87533-92-9

प्रथम संस्करण
2019
सर्वाधिकार
अजय अनजान

प्रकाशक
अभिधा प्रकाशन
रामदयालु नगर, मुजफ्फरपुर-842002

मुद्रक
बी० के० ऑफसेट, दिल्ली - 32

मूल्य
400/- (चार सौ रुपये)

भाषा, मुझे चाहिए वृषभ के हुंकार जैसी गर्वोन्नत भाषा, मुझे चाहिए भैसे की हँकड़ती डकार जैसी भाषा, मुझे चाहिए शरदकालीन ज्योत्स्ना में जंबुकों कें मंत्र पाठ जैसी बिफरती हुई भाषा, मुझे चाहिए सूर के भ्रमरगीत, गोसाई जी के अयोध्याकांड, और कबीर की 'साखी' जैसी भाषा, मुझे चाहिए गंगा-जमुना-सरस्वती जैसी त्रिगुणात्मक भाषा, मुझे चाहिए कंठलग्न यज्ञोपवीत की प्रतीक हविर्भुजा सावित्री जैसी भाषा...।" कहना न होगा कि उन्होंने इसकी खोज लेखन के आरम्भ से शुरु कर दिया था।

ललित निबंधों के माध्यम से पाठकों के इतिहास-बोध को परिष्कृत करना भी श्री राय का एक खास उद्देश्य रहा है। लेखक ने उनकी मान्यता को सुंदर और सही शब्दों में व्यक्त किया है- "वे अपने ढंग से इतिहास-बोध की आवश्यकता का ही प्रतिपादन नहीं करते अपितु उसके समझने की प्रक्रिया को भी स्पष्ट रूप में सामने रखते हैं। उनका यह कहना कि अपनी राष्ट्रीय अस्मिता को हम अपनी आँख से कम और विदेशी आँखें से अधिक देखते हैं सर्वथा समीचीन है। बौद्धिक उपनिवेशवाद से हम अभी मुक्त नहीं हुए हैं, यह भी सर्वथा ग्राह्य है।" उनके इतिहास-विषयक निबंधों पर अजय 'अनजान' ने एक अनजान प्रश्न भी खड़ा किया है- 'अन्य विधाओं की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई है। इसका कारण यह है कि वे साहित्य के स्थान पर इतिहास की ओर उन्मुख हो गए हैं। भाषा-विज्ञान और नृतत्वशास्त्र का सहारा लेकर उसमें कुछ इस तरह रमें हैं कि किसी दूसरी ओर देखने का उन्हें अवसर ही नहीं मिला है। इस कतर-व्योंत से उनका ललित लेखन भी प्रभावित हुआ है।... अगर राय साहब हजारी प्रसाद द्विवेदी और विद्यानिवास मिश्र की तरह अन्य विधाओं की ओर उन्मुख हुए होते, जिनकी उनमें क्षमता थी, तो उनकी परिधि के रचनात्मक आयामों का बहुविध विस्तार हुआ होता और साहित्य की प्रकृति को और निकटता से वे समझ सके होते। मुझे लगता है कि ग्रंथकार हिंदी साहित्य जगत की नैसर्गिक राजनीति के आतंक के साये से उबर नहीं पाया है। श्री राय किसी की रिप्लिका बनने के पंड-श्रम से मुक्त चिंतक थे। उनकी चिंता 'भारत' की चिंता है। विधा सिर्फ एक माध्यम भर उस चिंता को व्यक्त करने की। स्वयं ग्रंथकार का ही मानना है कि "जिस जाति के समझदार लोगों का इतिहास-बोध प्रखर नहीं होता, जिसे अपने गतिशील सांस्कृतिक दाय का बोध नहीं होता वह अंधश्रद्धा और परंपरा से ग्रस्त होकर जल्दी ही अवनति के गर्त में समा जाती है।" उसे इस बात का अनुभव भी है कि "भारतीय संस्कृति के दाय को विकृत करने का प्रयास शताब्दियों से चल रहा था, लेकिन लोग परायों से लड़कर अपनी अस्मिता को बचाने में सफल रहे। आज की लड़ाई भिन्न है। अपने ही अंदर के जयचन्दों ने स्वार्थ का ऐसा वितण्डावाद खड़ा कर दिया है कि उससे लड़ पाना मुश्किल हो रहा है।" श्री राय ऐसे ही लोगों से लड़ते हुए 'चिंमय-भारत' की तलाश में लगे थे। श्री राय की तो यह इच्छा है कि भविष्य में कोई 'माई का लाल' आगे बढ़कर भौतिक शास्त्र-जीव विज्ञान आदि अनुशासनों में भी ललित-निबंध लिखे। इस विस्तार तक जाने और उसकी

वकालत करने की क्षमता उसी लेखक में हो सकती है जिसकी दृष्टि 'मूल दृष्टि' से 'अभिसार' करती हो। उन्होंने चेतावनी के स्वर में हमें आगाह किया, ''अगली शताब्दी नए ढंग और नयी शब्दावली माँगती है।.... भारतीय बुद्धिजीवी और भारतीय साहित्यकार के लिए वह आधार भूमि भारतीय प्रज्ञा की देशी जमीन ही हो सकती है, अन्य और कोई नहीं।...इसी से मैं यहाँ और अपने लेखन में अन्यत्र भी मूल की ओर लौटने की बात करता हूँ, मूल संश्लिष्ट होने की बात करता हूँ।''

डॉ. अजय अनजान ने अपने इस पुस्तक में श्री राय के लेखन और बहुविध चिंतन की बहुत सुंदर विवेचना की है। वह लिखते हैं -"इतिहास इस बात का साक्षी है और इतिहास-बोध इस बात का प्रमाण है कि अगर हमें प्रचलित संकीर्णता से ऊपर उठना और देश को एक सूत्र में संग्रथित करना है तो देश-प्रेम की भावना को सशक्त बनाना पड़ेगा।" उसके दृष्टि में 'उबरने का अन्य कोई मार्ग नहीं है। अन्यथा हम टुकड़े-टुकड़े होकर दरिद्र और अभिशप्त रह जायेंगे।' इसी बिना पर श्री राय ने विवेकानंद के शब्दों में देश का आह्वान किया है, ''मैं भारत में लौह की मांसपेशियाँ और फौलाद की नाड़ी तथा धमनी देखना चाहता हूँ क्योंकि इन्हीं के भीतर वह मन निवास करता है जो शंपाओं और बज्रों से निर्मित होता है। लेखक का यह मानना सही है कि श्री राय 'गांधीवादी चिन्तन से विशेष रूप से प्रभावित थे, और आज की सभी समस्याओं के निदान के रूप में वे उसकी वकालत करते थे।' दरअसल श्री राय के लिए गांधी 'भारतीयता' के प्रतीक हैं। वह उनमें 'राम जैसा होने' और 'बहुत कुछ सफल होने को' देखता है। वह यह मानकर चलता है कि गांधी की प्रासंगिकता तब तक रहेगी जब तक मनुष्य को मनुष्यता की दरकार होगी। ग्रंथकार ने ललित निबंधों के अनेक रूपों और विशेषताओं की चर्चा करते हुए कुबेरनाथ राय के पाठकों के लिए बेहतरीन सामग्री एक जगह उपलब्ध कराई है। श्री राय के निबंध पाठक से उसके अध्ययन-चिंतन की माँग करते हैं। कहानी-उपन्यास की तरह सिरहाने रखने से श्री राय पकड़ में नहीं आते हैं। लेखक इस बात के लिए साधुवाद का पात्र है कि वह श्री राय के मूल को पहचानने में काफी हद तक सफल रहा है। इस पुस्तक में श्री राय की विशेषताओं -बोध-कथाओं द्वारा महत्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन, सूक्ति, बिंब, प्रतीक और मिथकों के प्रयोग में सिद्ध-हस्तता और उनका आज के युग-धर्म के संदर्भ में विवेचन और विश्लेषण को यथास्थान उदाहरण सहित रखा है जो पाठक को बांधे रखने में सक्षम है। ग्रंथकार का यह विचार कि 'व्यष्टि बिंब को समष्टि बिंब तक उठाने की जो कला उनके पास है, वह अंयत्र दुर्लभ तो है ही भाषा-विज्ञान और व्युत्पत्ति शास्त्र 'के माध्यम से वे भाषा की उलझी पहेली सुलझाते थे', बहुत हद तक सही है अजय 'अंजान' ने श्री राय के लेखकीय दौर की आसुरी वृत्तियों और उनसे संघर्ष करते हुए अपने को स्थापित करने की सफल चेष्टा का बड़ा ही यथार्थ और मार्मिक वर्णन किया है। वह दौर ऐसा था जब हिन्दी साहित्य जगत के आकाश में पश्चिमी साहित्य, मार्क्सवादी साहित्य, संगठन शास्त्रवादियों की

गिद्ध-मंडली शिकार की तलाश में मंडराती रहती थीं। शस्य-श्यामला धरती पर श्री राय को 'अभिमन्यु की तरह इन सभी महारथियों से जूझना पड़ा है। क्षत-विक्षत होकर भी वे पराभूत नहीं हुए हैं।' इसके अनेक कारण हैं जिसके विस्तार में यहाँ जाना संभव नहीं है । एक संकेत ही काफी है-"सच पूछो तो मेरे अन्दर एक अविराम अविच्छिन्न समुद्र-मंथन चल रहा है। जबसे मैंने होश सँभाला तभी से। मन ही मंदिराचल है, उसमें सर्पशिशुवत लिपटी मेरी कामना ही वासुकि है, और इंद्रिय-इंद्रिय, स्नायु-स्नायु में बैठे देवता और असुर अविराम मंथन में लीन हैं। इस मंथन द्वारा श्री, मणि, रंभा, शंख, ऐरावत और उच्चै:श्रवा तो कभी नहीं मिले, एकाध बूँद अमृत और जहर ज़रूर कभी-कभी मिला था, वारुणी सदैव मिलती रही है। इसकी कमी नहीं हुई। फलत: मेरे जीवन में देवता तो प्राय: तृषित ही रह गए, परंतु मन के रसातल में भैंसे की तरह मँड़िया मारते हुए असुरों ने छककर उस वारुणी का पान किया है और लगातार करते जा रहे हैं। अर्थात्इन असुरों की पुष्टि-तुष्टि के लिए ही मेरा जन्म हुआ।" श्री राय की बनावट ही अद्भुत है। उनको किसी की परवाह नहीं है। हार-जीत से वे ऊपर हैं-"आखिर इतना प्रकाश ले कर क्या होगा? अखंड प्रकाश और अखंड जागरण कितनी बड़ी यंत्रणा है। मैं तप्त और तृषित हूँ। मुझे अंधकार की तृषा है, घनघोर निद्रा की तृषा है। माना कि प्रकाश सुरक्षा है ज्ञान है, अमृत है- सब सही। पर इतना आलोक, इतनी सुरक्षा, इतना ज्ञान और इतना अमृत लेकर क्या होगा?" उनके चिंतन का धरातल बहुत ऊपर का है। वे लिखते हैं-"जीवन ही एक सलीब है जिस पर असहाय रूप में हम ठोंक दिए गए हैं, अपने ही पापों की नहीं, औरों के पापों की कीलों से भी। राजा-रंक सभी के कंधे पर क्रॉस है, पर बिरला ही ऐसा होता है जो औरों को पाप-मुक्त करने के लिए, इस व्यथा को भोगता है। तब वह पुरुष नीलकंठ बन जाता है और यातना का रूपान्तर हो जाता है एक ज्योतिर्मय महिमा में। यह प्रतीक हमें शिक्षा देता है कि क्रॉस तो ढोना ही है, जब जन्म लिया है तो इस नियति से नहीं बच सकते, पर इसे ऐसे ढोओ कि यातना महिमा बन जाय। नीलकंठ बनने के आग्रही श्री राय का रास्ता ही अलग है। उनकी पसंद ही कुछ और है-''शोभा और श्रृंगार के प्रतीक इन पुष्पों के रहते हुए भी मैं नीम के पुष्प-गुच्छ का तिरस्कार नहीं कर पाता हूँ।''... नीम का मामूली फूल साहित्य की उस नयी विधा का प्रतीक है, जो समूची निराशा और पराजय का अतिक्रमण करके जीवन में जीने योग्य क्षणों के दानों को एक-एक करके चुन रही है। इसलिए वे अविराम यात्रा पर अकेले चल पड़े हैं- ''जन्म से मरण तक इस पंचभोग्या याज्ञसेनी सृष्टि का परिधान पर परिधान हरण करते जाओ, 'स्व' का दु:शासन थक जायगा परन्तु इसके भीतर का सार कहाँ है, पता नहीं।''

यह एक सच्चाई है कि निबंधकार कुबेरनाथ का चिंतन इतना बहुआयामी है कि उसे समग्रता में प्रस्तुत करना आसान नहीं है। लेकिन ग्रंथकार ने इस भार को उठाने की कोशिश की है। जैसा कि अक्सर होता है हम उतना ही भार उठाने में सक्षम हो पाते हैं जितनी शक्ति हमें प्रकृति द्वारा

मिली है। इस ग्रंथ के प्रणयन कर्ता भी इससे अछूते नहीं रहें हैं। उन्होने कई जगह श्री राय पर अपना विचार थोपने की कोशिश की है। जैसे एक जगह ग्रंथकार महोदय लिखते हैं-"लेखन तो शुरू किया था ललित निबन्धकार के रूप में, पर चोला धारण कर लिए शुद्ध इतिहास के निबन्धकार का। उसके दुष्परिणाम से भी वे परिचित थे। लेकिन पाण्डित्य का दुराग्रह व्यक्ति को अनेक अंधेरी गलियों में घुमाता है।" इस तरह की कई टिप्पणियाँ प्रस्तुत ग्रंथ में देखने को मिलती हैं। मुझे लगता है कि ग्रंथकार ने अपनी सीमा को श्री राय पर थोपने की कोशिश की है। हालाँकि एक जगह उसने अपनी सीमा स्वीकार भी किया है, "उस पर अपनी सम्मति वही व्यक्ति दे सकता है जिसका वह बोध प्रखर हो।" सच तो यह है कि श्री राय ने कला-साहित्य-दर्शन-गणित-भूगोल आदि का तलस्पर्शी अवगाहन किया है। यह लगभग असामांय घटना है। उनके समकालीनों में शायद ही किसी का बूता हो जिसने इस गहराई से विविध विषयों का अध्ययन किया हो और उसे ललित शैली में प्रस्तुत किया हो। ऐसा इसलिए संभव हो पाया कि उनकी कोई निजी लोभ या तृषा नहीं थी- ''मैंने चतुर्दिक हँसती राका-निशि में किसी का हाथ पकड़कर कोई प्रतिज्ञा की थी, पर क्षमाहीन अर्थव्यवस्था और शासनतन्त्र के बीच कुछ कर नहीं पाया और दमित कामना का पाप ढोता हुआ इच्छाओं के फूल जैसे शिशुओं की निरन्तर हत्या करता हुआ जी रहा हूँ।'' लेकिन उनके निबंधों में पाठक बहुत महत्वपूर्ण है। पाठकों के लिए 'मणि' (भारतीयता के विशिष्ट आयाम) की खोज में घाट-घाट का पानी पीते रहे और इतिहास से 'मधु' निचोड़कर प्रस्तुत करते रहे। और अंत में एक दिन चुपचाप चले भी गए- ''मुझे जाना ही होगा क्योंकि कहीं कोई प्रेषित पति का रूप में हृदय पर नमस्कार मुद्रा में जुड़े बीस नखों के अक्षत और अपने नारियल युग्म लिए मेरी प्रतीक्षा करती होगी। जाना ही होगा क्योंकि यह काम रूपिणी सृष्टि कहीं भविष्य की मातृका बनकर तो कहीं भविष्य की प्रेमिका बनकर प्रतीक्षारत है। ...मृगशिरा की दुपहरिया में कोयल कूँक जायगी, पर मैं नहीं रहूँगा।"

डॉ. अजय 'अंजान' के ग्रंथ से गुजरते हुए इस बात की ताईद की जा सकती है कि ग्रंथकार ने इस ग्रंथ रचना में अपने को खपाया-पचाया है। उसकी दृष्टि भी मूल-दृष्टि की तलाश की रही है। श्री राय के सम्पूर्ण साहित्य के बिना विशद अवलोकन के इस तरह की ग्रंथ-रचना संभव ही नहीं है। कुबेरनाथ राय के सुधी पाठक के रूप में मेरे सामने इस तरह का कोई ग्रंथ अब तक देखने में नहीं आया है। सुंदर, सुघढ़ और सुचिन्तित ग्रंथ-रचना के लिए डॉ. अजय 'अनजान' बधाई के पात्र हैं। मुझे उम्मीद है कि यह पुस्तक श्री कुबेरनाथ राय को समझने और समझाने की दिशा में मील का पत्थर साबित होगी तथा भविष्य में और भी लेखन-शोध के लिए लोगों का आह्वान करेगी।

❖❖

रचनाकार

डॉ. रमाकांत राय
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी
राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
इटावा, उत्तर प्रदेश–२०६००१
royramakantrk@gmail.com

डॉ. महात्मा पांडेय
सहायक आचार्य एवं शोध निर्देशक
हिंदी विभाग, साठेय महाविद्यालय
विले पार्ले (पूर्व), मुंबई-४०००५७
mahatmapandey1982@gmail.com

ऋषिकेश कुमार
सह-प्राध्यापक, हिंदी विभाग
पी.जी.डी.ए.वी. महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय
rishikeshkumaer340@gmail.com

डॉ. निशीथ राय
सहायक प्रोफेसर,
मानव विज्ञान विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
nithsheeth.rai1@gmail.com

डॉ. मनोजकुमार राय
प्रोफेसर
गांधी एवं शांति विभाग
chinmay69@gmail.com

डॉ. राम रघुवंश मणि
प्रवक्ता (हिन्दी)
सआदत इण्टर कॉलेज, नानपारा
बहराइच (उप्र)
ramraghubanshmanishukla@gmail.com

श्रीनिवास त्यागी
सहायक प्रोफेसर
गार्गी कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय)
seriniwastyagi@gmail.com

आदित्य कुमार गिरि
अध्यापक, हिंदी विभाग
सेठ आनंदराम जयपुरिया कॉलेज,
कलकत्ता
adityakumaergieri@gmail.com

अभिषेक कुमार पांडेय
शोधार्थी (पीएचडी)
हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
abhigupt011@gmail.com

मुहम्मद हारून रशीद ख़ान
खजुरिया पोस्ट, पीरनगर
जिला- गाजीपुर उ.प्र. - २३३००१
mdharoon.khangzp786@gmail.com

डॉ. अपराजिता राय
ग्राम व पोस्ट- गोमाडीह
जिला- आजमगढ़ उ.प्र. - २४६२०२
prashantrai1980@gmail.com

विजयदत्त श्रीधर
संपादक, 'आंचलिक पत्रकार'
संस्थापक-संयोजक
सप्रे संग्रहालय, भोपाल
editor.anchalikpatrakar@gmail.com

परिशिष्ट

शोधावरी शोध संदर्भ - साँचा

(प्रतिमान, समय समाज संस्कृति, समाज-विज्ञान और मानविकी की पूर्व समीक्षित अर्द्धवार्षिक पत्रिका से सविनय साभार)

हिंदी के शोध-संसार में वैसे तो अब लोग बड़े पैमाने पर संदर्भन करने लगे हैं, लेकिन अराजकता या उदासीनता अभी-भी कम नहीं है। हमारी कोशिश होगी कि लंबे अरसे में विकसित और निहायत लोकप्रिय शिकागो या हार्वर्ड मैनुअल जैसी वैश्विक संदर्भन प्रणालियों का मूलतः इस्तेमाल करते हुए उसे भाषा के स्थानीय व्यवहार के मुताबिक़ अनुकूलित करें। लेखक/लेखिकाओं से अपील है कि वे अपने आलेख का शब्द-संयोजन करते वक़्त इन चीज़ों का ख़याल ज़रूर रखें, ताकि हमें संपादन में और सजग पाठकों को पढ़ने में कम मेहनत करनी पडे। शोधपत्र में नाना प्रकार के स्रोतों को संदर्भित करने का तरीका नीचे मिसाल दे कर सिलसिलेवार समझाया गया है।

ख़याल रहे कि कुछ मामलों में हमारा तरीक़ा इन तरीक़ों से अलग है। पहली बात, हम मूल आलेख में संदर्भ न डालकर फ़ुटनोट का इस्तेमाल करेंगे, और लेख के आख़िर में एक ग्रंथ-सूची देंगे। दूसरी बात, हम फ़ुटनोट व ग्रंथावली दोनों ही जगहों पर डॉट का इस्तेमाल करेंगे, जबकि मूल आलेख में पूर्ण विराम का। और, हमारे यहाँ जैसा रिवाज़ है नाम वैसे ही रखेंगे, यानी पहले पहला नाम, फिर उपनाम, और ग्रंथावली भी हिंदी वर्णक्रमानुसार इसी ढर्रे पर चलेगी। हमारे यहाँ लेखक अपने नाम के पहले डॉक्टर/डॉ. या प्रोफ़ेसर /प्रो. लगाते देखे गये हैं, हम उनके छोटे रूप से भी परहेज़ करेंगे, सिवाय प्राथमिक स्रोतों के, जैसे मोती बी.ए, अगर अपने तख़ल्लुस के साथ

लिखते थे तो हम उनकी तमाम रचनाएँ मोती बी.ए, के नाम से ही डालेंगे। संक्षेप में नाम लिखते समय डॉट का प्रयोग करें और स्पेस न दें, जैसे :जी.पी.श्रीवास्तव, न कि जी. पी. श्रीवास्तव। विख्यात संस्थाओं या देशों के नाम लिखते समय डॉट लगाने की आवश्यकता नहीं है, जैसे : यूनेस्को, न कि यू.एन.ई.एस.सी.ओ. ; या यूके, न कि यू.के.।

हम नुक़्ते का प्रयोग भी करेंगे, क्योंकि यह कुछ अंग्रेज़ी और उर्दू शब्दों के लिए ज़रूरी है। मिसाल के तौर पर, ज़ुल्फ़िक़ार बुख़ारी, ज़िज़ेक, ज़ीटीवी, क़यामत, फ़रमाइश, ग़ज़ल, ख़याल, वग़ैरह। उसी तरह, हम हमेशा अर्धचंद्र या चंद्रबिंदु का इस्तेमाल करेंगे, जहाँ भी लगता है, जैसे कि 'फ़ुटबॉल' या 'ऑल इंडिया रेडियो' या फिर 'हँसना' या 'पाँच' में। ख़याल रहे कि अगर किसी भी उद्धृत दस्तावेज़ में अगर नुक़्ते/चंद्रबिंदु का इस्तेमाल मूल में नहीं हुआ है तो हम अपनी तरफ़ से न लगाएँ। उसी तरह अगर देसी पंचांग/ संवत का प्रयोग हुआ है तो उसी का इस्तेमाल करें। जहाँ तारीख़ साफ़ नहीं/ अनुपलब्ध है, वहाँ इसका ज़िक्र ज़रूर हो। कोलन या विसर्ग लगाते समय ध्यान रखें कि उसके दोनों तरफ़ स्पेस हो। हाँ, अगर किसी अंक के तुरंत बाद विसर्ग लगाया जा रहा है तो स्पेस केवल उसके बाद आएगा। हर जगह अरबी अंकों यानी 1, 2, 3, 4 आदि का प्रयोग करें।

फ़ुटनोट में किताब के संदर्भन का क्रम :

पाद-टिप्पणी के रूप में संदर्भ का संक्षिप्त रूप इस्तेमाल किया जाएगा, लेकिन पृष्ठ संख्या अवश्य लिखी जाएगी। जैसे : लेखक का नाम (कोष्ठक में प्रकाशन का वर्ष) : पृष्ठ संख्या.

मिसाल : सुमित सरकार (1985) : 21.

लेख के अंत में दी जानेवाली संदर्भ-सूची में किताब के संपूर्ण संदर्भन का क्रम : सुमित सरकार (1985), मॉडर्न इंडिया : 1885-1947, मैकमिलन, लंदन : 1985. ज़ाहिर है कि यहाँ पृष्ठ संख्या नहीं देनी है।

अगर वही संदर्भ फ़ुटनोट में दोबारा आ रहा है, तो महज़ लेखक के नाम से काम चला सकते हैं, पर साथ में विसर्ग लगा कर पृष्ठ संख्या देना लाज़िमी होगा। अगर एक ही संदर्भ लगातार फ़ुटनोट में है, तो 'वही : पृष्ठ

संख्या' से काम चल जाएगा। अगर पृष्ठ भी नहीं बदला तो सिर्फ़ 'वही' पर्याप्त होगा। अगर लेखकों या संपादकों के दो नाम हैं तो पूरे जाएँगे, अगर दो से ज़्यादा, तो दोनों के बाद वग़ैरह लगाएँ। लेकिन पहले फ़ुटनोट और ग्रंथ-सूची में सारे नाम, पूरे जाएँगे। अगर किताब के एक से ज़्यादा संस्करण छप चुके हैं तो जिस संस्करण का इस्तेमाल हुआ है, उसके ज़िक्र के साथ कोष्ठक में मूल प्रकाशन का साल भी जाएगा। अगर एक ही रचनाकार की एक नाम से एक ही साल की दो शीर्षक-रचनाएँ उद्धृत की गई हैं तो उनके हवाले में भेद करने के लिए फ़ुटनोट/ग्रंथावली में रचना के नाम के बाद प्रकाशन वर्ष के साथ क, ख... आदि लगाया जाए।

मिसाल :

रामचंद्र गुहा (1982 क), 'फ़ॉरेस्ट्री इन ब्रिटिश ऐंड पोस्ट-ब्रिटिश इंडिया : अ हिस्टोरिकल एनालिसिस', इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल, वीकली, खंड 18, अंक 44: 1882-1896

....(1982 ख), 'फ़ॉरेस्ट्री इन ब्रिटिश ऐंड पोस्ट-ब्रिटिश इंडिया : अ हिस्टोरिकल एनालिसिस', इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल, वीकली, खंड 18, अंक 45: 1940-1947

अगर किताब अनूदित है तो अनुवादक का नाम फ़ुट्नोट और ग्रंथावली में किताब के नाम के बाद कोष्ठक में आएगा :

मिसाल : मन्ना डे (2008), यादें जी उठीं : एक आत्मकथा, अंग्रेजी. से अनुवाद : रक्षा शुक्ला, पेंगुइन बुक्स, नई दिल्ली

संपादित किताब में छपे लेख :

मिसाल : हरीश त्रिवेदी, 'ऑल काइंड्स ऑफ़ हिंदी : दि इवाल्विंग लैंग्वेज ऑफ़ हिंदी सिनेमा', आशिस नंदी व विनय लाल (संपा.) फ़िगिंरप्रिंटिंग पॉपुलर कल्चर : द मिथिक एंड दि आइकॉनिक इन इंडियन सिनेमा, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली : 51-86.

जर्नल-आदि में छपे लेख :

रचनाकार (प्रकाशन वर्ष), 'लेख का नाम', पत्र का नाम, खंड, अंक, किस पृष्ठ से किस पृष्ठ तक, आख़िर में अगर ख़ास पृष्ठ का ज़िक्र करना हो तो :

मिसाल : प्रेमलता वर्मा (2001), 'इब्ने-मरियम हुआ करे कोई', बहुवचन, वर्ष 2, अंक 8 (जुलाई-सितंबर) : 110-128, 155.

पत्रिका के आलेख :

मिसाल : बजरंग बिहारी तिवारी (2012), 'केरल में दलित आंदोलन और दलित साहित्य', कथादेश, वर्ष 32 : अंक 5 (जुलाई) : 76

अख़बार में छपी रचना या रपट :

लेख : दीपानिता नाथ, 'रेडियो रिवाइंड', आई : द संडे एक्सप्रेस, नई दिल्ली, 10 अगस्त, 2008.

रपट : 'यह क्षेत्र हिंदी में संकट का समय : असगर', जनसत्ता (2005), दिल्ली, 20 मार्च : 7.

छपे हुए साक्षात्कार के हवाले के लिए : साक्षात्कार देने वाले का नाम-शीर्षक व बातचीत करने वाले का नाम उद्धरण चिह्नों के बीच किताब है तो लेखक से शुरू करके किताब वाला संदर्भन, अगर पत्रिका है तो पत्रिका वाला।

मिसाल : विश्वनाथ त्रिपाठी, 'रामविलास शर्मा 1950 में बीटीआर वाले माने जाते थे' : अजेय कुमार से बातचीत, उद्भावना (रामविलास शर्मा महाविशेषांक : संपा. प्रदीप कुमार), अंक 104 : 199. अगर बातचीत खुद लेखक/लेखिका ने की है तो ज़िक्र यूँ होगा : लेखक/लेखिका द्वारा साक्षात्कार, 13 अक्टूबर, 2005, नयी दिल्ली.

अभिलेखागार की सामग्री का हवाला :

होम डिपार्टमेंट, 42-48/नवंबर 1916, ए.जेल्स, नैशनल आकाईव्ज़ ऑफ़ इंडिया , (आगे एनएआई).

अदालती मामलों / फ़ैसलों का हवाला यूँ दिया जाएगा :

ऑल इंडिया आईटीडीसी वर्कर्स यूनियन एवं अन्य बनाम आईटीडीसी एवं अन्य, (2006), 2007 एआईआर 301, (2006) 10 एससीसी 66.

विश्वव्यापी वेब से ली गई सामग्री का हवाला यूँ दिया जाएगा :

मिसाल : विकीपीडिया पर 'पान सिंह तोमर' :

httpë//en.wikipedia.org/wiki/Paan_Singh_Tomar; 28 जुलाई 2012 को देखा गया।

अगर प्रविष्टि हिंदी में है तो उसे हिंदी में दिखाएँ : httpë// en.wikipedia.org/wiki/राजेश खन्ना. कई बार वेब पतों से नक़ल - चेपी करते हुए भारतीय भाषाओं की लिपि बदलकर अबूझ हो जाती है, जिससे बचने का उपाय यह है कि अंग्रेज़ी वेब-पते की नक़ल-चेपी करते समय देसी सामग्री को यथावत अपने वर्ड प्रोसेसर में अलग से टंकित करें।

चलती का नाम गाडी, पार्ट-4 : यूट्यूब : httpë//www.youtube.com/watch?v=KWqkCpybNLo&feature=g-vrec;30 जुलाई 2010 को संदर्भानुसार देखा/सुना/पढ़ा गया।

अगर लेख फ़िल्म-केंद्रित है, तो ग्रंथावली के साथ फ़िल्मावली भी देनी होगी, जिसमें फ़िल्म का नाम, साथ में निर्माता/निर्देशक और रिलीज़ हुए साल का ज़िक्र ज़रूरी होगा।

मिसाल : 'अब दिल्ली दूर नहीं', आरके फ़िल्म् , निर्देशक : अमर कुमार, 1957. लेकिन मूल आलेख में ब्रैकेट में सिर्फ फ़िल्म का नाम व रिलीज़ वर्ष के ज़िक्र से काम चला जाएगा : ('अब दिल्ली दूर नहीं', 1957)